UNIVERSAL LIBRARY

OU_186357

UNIVERSAL LIBRARY

P—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ıll No. H80·9 A53H Accession No. H 3091

ıthor अनन्त

tle हिन्दी साहित्य के सहस्र वर्ष

This book should be returned on or before the date last marked bel

हिन्दी-साहित्य
के
सहस्र वर्ष

लेखक
प्रोफेसर अनन्त
हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना

प्रकाशक
राजेन्द्रकुमार एण्ड ब्रदर्स
कचहरी रोड, बलिया

प्रकाशक
राजेन्द्रकुमार एण्ड ब्रदर्स
बलिया

[प्रथम संस्करण : १९५९ ई०]

मूल्य छः रुपये

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

मुद्रक—
लालता प्रसाद,
ज्योति प्रेस,
मध्यमेश्वर, वाराणसी

समर्पण—

आज तक के उन सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों के नाम, जिनके ग्रंथों के आधार पर इस पुस्तक की रचना हुई।

पटना
१५-११-५८

—अनन्त

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर मैंने कुछ विस्तार से प्रकाश डाला है, क्योंकि आज तक के लिखे गये हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में आदिकाल का विवेचन प्रायः अपर्याप्त-सा ही है। आधुनिक काल में सभी लेखक, कवि तथा उनकी रचनाओं का पूरा परिचय स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा सका है, अतः उसके लिए मैं सबके सम्मुख क्षमाप्रार्थी हूँ।

पुस्तक-रचना की प्रेरणा देनेवाले आचार्य बदरीदत्त शास्त्री के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ, साथ ही प्रकाशक महोदय के प्रति भी अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

—अनन्त

विषय-सूची

प्रकरण—१

प्रस्तावना

हिन्दी शब्द की उत्पत्ति, पृ० १; हिन्दी शब्द का अर्थ, पृ० १–२; भाषा की उत्पत्ति का विषय, पृ० २–३; संस्कृत, पृ० ३–४; प्राकृत, पृ० ४–५; अपभ्रंश, पृ० ५–७; हिन्दी (पुरानी हिन्दी), पृ० ७–८; हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का काल निर्णय, पृ० ८–६; साहित्य का इतिहास, पृ० ६; हिन्दी साहित्य के इतिहास का इतिहास, पृ० १०–१६; काल-विभाग, पृ० १६–१६ ।

प्रकरण—२

आदिकाल

अपभ्रंश काल, पृ० २०–२४; अपभ्रंश साहित्य की खोज, पृ० २४–२६; जैनेतर अपभ्रंश, पृ० २६–२८; वज्रयानी सिद्ध और उनका साहित्य—सिद्ध, कौन थे ?, पृ० २८–२६; प्रमुख सिद्ध, पृ० ३०–३४; सिद्ध-साहित्य पृ० ३४–३७; सिद्धों की भाषा, पृ० ३७–३८; नाथ सम्प्रदाय पृ० ३८–३६; गोरखनाथ, पृ० ३६–४१; अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) साहित्य की परम्परा और उसका परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव, पृ० ४२–४३; वज्रयानी शब्दों की परम्परा—शून्य, पृ० ४३–४४; वज्र, पृ० ४४–४५; खसम, पृ० ४५; भावपक्ष, पृ०४६; शैली, पृ० ४६–४७; रूपक योजना, पृ० ४७–४८; भाषा, पृ० ४८–५०; छंद, पृ० ५०; गेय पद बंध, पृ० ५०–५१; भाषा भाव छन्द का समवेत् हरण, पृ० ५१–५२;

हेमचन्द्र, पृ० ५२–५३; पुष्पदंत, पृ० ५३; स्वयंभू, पृ० ५३–५४; जोइंदु, पृ० ५४।

प्रकरण—३

वीरगाथा काल

तत्कालीन स्थिति, पृ० ५५–५६; रचनाओं के रूप और श्रेणियाँ, पृ० ५६–५७; प्राचीन साहित्य का सरक्षण, पृ० ५७–५८; इस काल के प्रमुख ग्रन्थ और कवि, पृ० ५८–५९; रासो शब्द की व्युत्पत्ति और परम्परा, पृ० ५९; खुमान रासो, पृ० ५९–६१; वीसलदेव रासो, पृ० ६१–६६; पृथ्वीराज रासो, पृ० ६६–७५; भट्ट केदार, मधुकर कवि, पृ० ७५–७६; हम्मीर रासो, पृ० ७६; विजयपाल रासो, पृ० ७६; परमाल रासो, पृ० ७६; संदेश रासक, पृ० ७६–७७; खुसरो, पृ० ७७; ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली, पृ० ७७।

प्रकरण—४

पूर्व मध्यकाल

भक्तिकाल—राजनीतिक स्थिति, पृ० ७८; धार्मिक स्थिति, पृ० ७८–७९; आलवार भक्त, पृ० ७९; दक्षिण के चार आचार्य, पृ० ७९–८१; सूफी सम्प्रदाय, पृ० ८१–८२; भक्ति आन्दोलन के उत्थान के सम्बन्ध में ग्रियर्सन और शुक्लजी की मान्यताओं का खण्डन, पृ० ८३–८४; उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन, पृ० ८५; रामानन्द पृ० ८५–८७; वल्लभाचार्य, पृ० ८७–८९; भक्ति काल के साहित्य की शाखाएँ, पृ० ८९–९०।

प्रकरण—५

निर्गुणधारा

ज्ञानाश्रयी शाखा, पृ० ९१; निर्गुण पंथ, पृ० ९१–९२; निर्गुण पंथ और कबीर, पृ० ९२–९३; कबीर, पृ० ९३–९६; कबीर की उपासना-

पद्धति, पृ० ६६–६६; कबीर के सम्प्रदाय का साहित्य, पृ० ६६–१००; दादूदयाल, पृ० १०१–१०३; सिख गुरुओं का साहित्य, पृ० १०४–१०५; सन्तमत के सामान्य तत्त्व, पृ० १०५–१०६; संतमत के पतन का कारण, पृ० १०६–१०७।

प्रकरण—६

प्रेममार्गी सूफी-शाखा

प्रेम कथानकों का साहित्य, पृ० १०८–११०; कुतुबन, पृ० ११०–१११; मंझन, पृ० १११–११३; मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ११३–११६; जायसी का रहस्यवाद, पृ० ११६; रूप-वर्णन की विशेषता पृ० ११६–११७।

प्रकरण—७

सगुणमार्गी-धारा

कृष्ण-भक्ति का साहित्य—कृष्ण-लीला-गान की परम्परा, पृ० ११८–११६; क्षेमेन्द्र, पृ० ११६; जयदेव, पृ० ११६–१२०; चन्द का दशम, पृ० १२०; चण्डीदास और विद्यापति, पृ० १२०; सूरदास, पृ० १२१–१२४; रचनाएँ, पृ० १२४–१२६; सूर की राधा, पृ० १२६–१२७; सूर का कवित्व और वैशिष्ट्य, पृ० १२७; कृष्णदास, पृ० १२७–१२८; कुम्भनदास, पृ० १२८; परमानन्ददास, पृ० १२८; नन्ददास, पृ० १२८–१३०; चतुर्भुजदास, पृ० १३०; छीत स्वामी, पृ० १३०; गोविन्दस्वामी, पृ० १३१; अष्टछाप के बाहर के कृष्ण-भक्त कवि—हितहरिवंश, पृ० १३१; गदाधर भट्ट, पृ० १३१–१३२; मीराबाई, पृ० १३२–१३४; स्वामी हरिदास, पृ० १३४; श्री भट्ट पृ० १३४; व्यासजी, पृ० १३४; रसखान, पृ० १३५; ध्रुवदास, पृ० १३५; उपसंहार, पृ० १३५–१३६।

प्रकरण—८

रामभक्ति-शाखा

रामभक्ति का साहित्य—पृष्ठभूमि, पृ० १३७-१३८; गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३८-१४०; रचनाएँ, पृ० १४१; भाषा, पृ० १४१-१४२; तुलसीदास की प्रतिभा, महत्त्व और सफलता, पृ० १४२-१४३; रचना-शैली, पृ० १४३-१४४; भक्ति पद्धति, पृ० १४४-१४६; केशव-दास, पृ० १४६-१४९; रामभक्ति शाखा का पतन, पृ० १४९-१५०; भक्तिकाल के अन्य प्रमुख कवि आलम, महाराज टोडरमल, महाराज बीरबल, महापात्र नरहरि बंदीजन, नरोत्तमदास, गंग, बलभद्र मिश्र, रहीम, मुबारक, बनारसीदास, सेनापति, पृ० १५१-१५५।

प्रकरण—९

उत्तर—मध्यकाल

रीतिकाल

रीतिकाल की स्थितियाँ, पृ० १५६-१५७; रीति काव्य, पृ० १५७-१५८; रीतिकाव्य की परम्परा, पृ० १५८-१६१; रीतिकाव्य की विशेषता, पृ० १६१-१६२; रीतिकाव्य की सीमाएँ, पृ० १६२; रीतिकाव्य की भाषा, पृ० १६२-१६३; प्रमुख रीति ग्रन्थकार चिन्तामणि त्रिपाठी, पृ० १६३-१६४; महाराज जसवन्त सिंह, १६४; बिहारीलाल, पृ० १६४-१६५; सतसई की परम्परा और बिहारी सतसई, पृ० १६५-१६६; बिहारी का वैशिष्ट्य, पृ० १६६-१६७; बिहारी की सीमाएँ, पृ० १६७-१६८; भूषण, पृ० १६८-१७०; भूषण की राष्ट्रीयता, पृ० १७०-१७१; मतिराम, पृ० १७१; कुलपति मिश्र, पृ० १७२; सुखदेव मिश्र, पृ० १७२; कालिदास त्रिवेदी, पृ० १७२-१७३; देव, पृ० १७३-१७४; रचनाएँ, पृ० १७४; देव का वैशिष्ट्य, पृ० १७४-१७५; भाषा, पृ० १७५; दास (भिखारी

दास), पृ० १७५–१७६; नेवाज, पृ० १७६; सूरति मिश्र, पृ० १७६–१७७; तोषनिधि, पृ० १७७; रसलीन, पृ० १७७; दूलह, पृ० १७७–१७८; बेनी बन्दीजन, पृ० १७८; पद्माकर भट्ट, पृ० १७८–१८०; ग्वाल कवि, पृ० १८०–१८१; प्रताप साहि, पृ० १८१–१८२; रीतिमुक्त-धारा के प्रमुख कवि, पृ० १८२–१९०; आलम, घन आनंद या आनंद घन, गिरिधर कविराज, सूदन, बोधा, ठाकुर, बाबा दीनदयाल गिरि, गिरिधर दास ।

प्रकरण—१०

आधुनिक काल

नव-जागरण का काल, पृ० १९१–१९३; गद्य-खण्ड—हिन्दी-गद्य का विकास—ब्रजभाषा गद्य, पृ० १९४–१९७; खड़ी बोली, पृ० १९७–१९९; खड़ी बोली का प्रचार, पृ० १९९–२००; खड़ी बोली का गद्य, पृ० २००–२०३; मुन्शी सदासुखलाल नियाज, पृ० २०३; इन्शा अल्ला खाँ, पृ० २०३–२०४; लल्लूलाल, पृ० २०४; सदल मिश्र, पृ० २०४–२०५; ईसाई मिशनरियाँ, पृ० ३०५; राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, पृ० २०६; राजा लक्ष्मण सिंह, पृ० २०६; सर सैयद अहमद, पृ० २०७; सरकार द्वारा हिन्दी की उपेक्षा, पृ० २०७; गार्सान्दतासी, पृ० २०७–२०८; आर्य समाज का प्रभाव, पृ० २०८; श्रद्धाराम फुलौरी, २०८–२०९; बाबू नवीनचन्द्र राय, पृ० २०९–२१०; हिन्दी का निश्चित् रूप, पृ० २१०; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० २१०–२१४; हिन्दी का प्रचार और परिष्कार, २१४–२१५; पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१५–२१६ ।

प्रकरण—११

हिन्दी के विविध अंगों का प्रारम्भ और विकास

हिन्दी नाटक साहित्य का विकास—नाटक साहित्य की पूर्वपीठिका, पृ० २१७–२१८; आरम्भ, पृ० २१८–२१९; भारतेन्दु युग, पृ०

२२०—२१; द्विवेदी युग, पृ० २२१—२२२; जयशंकर प्रसाद, पृ० २२२—२२४; बौद्धिकता प्रधान नाटक, पृ० २२४; भावना प्रधान नाटकों की परम्परा, पृ० २२४—२२५; सामाजिक नाटक, पृ० २२५—२२६; एकांकी, पृ० २२६—२२८; हिन्दी-उपन्यास का प्रारम्भ और विकास, २२८—२३३; हिन्दी कहानी का प्रारम्भ और विकास, पृ० २३३—२३६; हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का प्रारम्भ और विकास, पृ० २३६—२४२; आलोचना का विकास, पृ० २४२—२४४।

प्रकरण—१२

हिन्दी के प्रमुख गद्य-लेखक

बालकृष्ण भट्ट, पृ० २४५; प्रतापनारायण मिश्र, पृ० २४५—२४६ पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पृ० २४६; लाला श्रीनिवास दास, पृ० २४६; फ्रेडरिक पिन्काट, पृ० २४६—२४७; पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पृ० २४७; बालमुकुन्द गुप्त, पृ० २४७; बाबू श्यामसुन्दर दास पृ० २४७—२४८; चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृ० २४८; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०२४८—२४९; प्रेमचन्द, २४९—२५०; जैनेन्द्रकुमार, पृ० २५१; अज्ञेय, पृ० २५१; यशपाल, पृ० २५१—२५२; पं० राहुल सांकृत्यायन आचार्य शिवपूजन सहाय, आचार्य रामलोचनशरण, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाब राय, नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री जगन्नाथ राय शर्मा, श्री नलिन विलोचन शर्मा, अन्य लेखक पृ० २५२—२५९।

प्रकरण—१३

आधुनिक काल—काव्य-खण्ड

भारतेन्दु युग

व्रजभाषा काव्य की प्राचीन धारा, पृ० २६०—२६२; भारतेन्दु-मंडल के व्रजभाषा-कवि, पृ० २६२—२६४; भारतेन्दु-मण्डल के बाहर के व्रजभाषा-कवि, पृ० २६४—२६५; श्री वियोगी हरि;

श्री दुलारेलाल भार्गव; ब्रजभाषा और खड़ी बोली की सन्धि-रेखा, पृ० २६५; श्रीधर पाठक, पृ० २६५; रायदेवी प्रसाद पूर्ण, पृ० २६५–२६६; पं० नाथूराम शर्मा शंकर, पृ० २६६; बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का खड़ी बोली-आन्दोलन, पृ० २६६।

प्रकरण—१४
द्विवेदी–युग

द्विवेदी-मण्डल के कवि : आचार्य महावीर प्रसाद 'द्विवेदी', पृ० २६६; पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० २६९–२७१; मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २७१–२७२; पं० रामचरित उपाध्याय, पृ० २७२–२७३; गिरिधर शर्मा नवरत्न, पृ० २७३; पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, पृ० २७३; पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', पृ० २७३; पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २७४; लाला भगवानदीन, पृ० २७४; पं० रूपनारायण पाण्डेय, पृ० २७५; पं० सत्यनारायण कविरत्न, पृ० २७५–२७६;

प्रकरण—१५
छायावाद–युग

परिस्थिति, पृ० २७७–२७८; छायावाद का परिचय, पृ० २७८–२८१; छायावादी कवि—जयशंकर 'प्रसाद', पृ० २८१–२८२; प्रमुख रचनाएँ, पृ० २८२; कवि-परिचय, पृ० २८२–२८५; सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जीवन-वृत्त, पृ० २८५–२८६; कवि-परिचय, पृ० २८६–२९०; मुख्यरचनाएँ, पृ० २९०; श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त', पृ० २९०–२९१; मुख्यरचनाएँ, पृ० २९१; कवि-परिचय, पृ० २९१–२९४; महादेवी वर्मा, पृ० २९४; मुख्य रचनाएँ, पृ० २९४; कवि-परिचय पृ० २९४–२९६; स्वच्छन्दावादी धारा—छायावाद युग के अन्य कवि –

पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० २६७; राकुमार वर्मा, पृ० २६७; भगवतीचरण वर्मा, पृ० २६८; हरिवंश राय 'बच्चन', पृ० २६८; नरेन्द्र शर्मा पृ० २६८–२६६; रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० २६६; बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृ० ३००; उदयशंकर भट्ट, पृ० ३००; जानकीवल्लभ शास्त्री, पृ० ३०० ।

प्रकरण—१६

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद, पृ० ३०१–३०६; प्रयोगवाद, पृ० ३०६–३०८; वर्त्तमान पीढ़ी के तरुण कवि, पृ० ३०८ ।

———

प्रकरण—१

प्रस्तावना

'हिन्दी' शब्द की उत्पत्ति

हिन्दी शब्द फारसवालों की देन है। प्राचीन फारसी में 'स' वर्ण का अभाव था। फारस-निवासी 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण करते थे। इस कारण वे लोग भारत के प्राचीन नाम 'सप्त सिन्धु' को 'हप्तहिन्दु', पश्चिमोत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध नदी 'सिन्धु' को 'हिन्दु', सिन्धु तट के प्रदेश को 'हिन्द' तथा वहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' और 'हिन्दी' कहा करते थे। उस समय 'हिन्दी' शब्द का अर्थ था 'हिन्द के निवासी'। अमीर खुसरो और इकबाल ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है †। किन्तु आगे चलकर 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'हिन्द के निवासियों की भाषा' के अर्थ में होने लगा।

हिन्दी शब्द का अर्थ

सामान्य अर्थ में 'हिन्दी' शब्द सम्पूर्ण देश के निवासी तथा भाषा, दोनों अर्थों में आ सकता है, किन्तु व्यवहार में हिन्दी राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त (भागलपुर), तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के विस्तृत क्षेत्र में ही बोली जाती है। इस क्षेत्र में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। हिन्दी के देशी-विदेशी सभी इतिहास-लेखक इस विस्तृत प्रदेश की बोलियों (dialects) या भाषाओं को 'हिन्दी' कहते आए हैं। इस अर्थ में हिन्दी की उपभाषाएँ पश्चिम में

---

† हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा—इकबाल।

मारवाड़ी, मेवारी, जयपुरी तथा मालवी आदि, मध्यपूर्व में अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, पूर्व में मगही, मैथिली, भोजपुरी तथा उत्तर में कुछ पहाड़ी भाषाएँ भी मान ली जाती हैं। किन्तु शास्त्रीय रूप में हिन्दी अन्तर्वेद या 'मध्यदेश' की भाषा ही मानी जाती है।

पिछले १०० वर्षों से खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार और प्रसार बड़ी तेजी से हुआ है। इस देश की स्वतन्त्रता के बाद खड़ी बोली हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में भी घोषित हो चुकी है*। इधर कुछ दिनों से 'हिन्दी' शब्द खड़ी बोली हिन्दी के लिए रूढ़ होता जा रहा है। साथ-ही-साथ हिन्दी उपभाषाएँ स्वतन्त्र भाषा के रूप में भी घोषित हो चुकी हैं, जैसे मैथिली। अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि वे हिन्दी की अनेक स्वतन्त्र हो जाने-वाली उपभाषाओं के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य मानें या केवल खड़ी बोली के साहित्य को हिन्दी-साहित्य मानें ? यहाँ विद्वानों का ध्यान मैं इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा कि यदि मध्यदेश की अनेक स्वतन्त्र हो जानेवाली हिन्दी की उपभाषाओं के साहित्य को हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देंगे तो हमें उर्दू के साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास के भीतर स्थान देना होगा, क्योंकि खड़ी बोली और उर्दू का सम्बन्ध अन्य किन्हीं दो भाषाओं के सम्बन्ध से अधिक गहरा है।

भाषा की उत्पत्ति का नियम

संसार में सर्वथा किसी नवीन एवं मौलिक भाषा का जन्म असम्भव है। पुरानी भाषा ही विकास पाकर नवीन भाषा के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक युग में किसी भी भाषा के दो रूप होते हैं। एक रूप वह जिसका प्रयोग शिक्षित समुदाय करता है या जो साहित्य में व्यवहृत होता है। भाषा के इस रूप को उसका साहित्यिक रूप कह सकते हैं।

* अभी केवल संविधान में ही है।

भाषा का दूसरा रूप वह होता है जिसका प्रयोग अनपढ़ लोग या सामान्य जनता किया करती है। भाषा के इस दूसरे रूप को प्रकृत रूप या लौकिक रूप कह सकते हैं। इन दोनों रूपों में प्रधान भिन्नता यह होती है कि भाषा का साहित्यिक रूप जहाँ व्याकरण के नियमों से जकड़ा होता है वहाँ उसका प्रकृत या मौलिक रूप व्याकरण के नियमों से मुक्त होता है। व्याकरण के नियमों से बँधा होने के कारण भाषा का साहित्यिक रूप निश्चित, नियमित और अपरिवर्त्तनशील होता है। वह युग-युग तक एक समान ही बना रहता है क्योंकि उसमें विकास सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए हम संस्कृत को ले सकते हैं। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के बाद संस्कृत का जो रूप निश्चित् हुआ, उसका लगभग वही रूप आज भी प्रचलित है। दूसरी ओर भाषा का प्रकृत रूप या सामान्य रूप व्याकरण के नियमों से मुक्त होने के कारण क्षण-क्षण परिवर्तित या विकसित होता चलता है। भाषा के इसी रूप का विकास होता है। इसी नियम के अनुसार एक भाषा बदलकर या विकसित होकर दूसरे रूप में प्रकट होती है और वह नये नाम से पुकारी जाती है। इस प्रक्रिया के मूल में प्रयत्नलाघव (economy of efforts), मुख-सुख आदि भाषा-विज्ञान के नियम वर्तमान होते हैं।

संस्कृत

आर्यों की प्राचीनतम भाषा वैदिक संस्कृत थी। ऋग्वेद की भाषा तत्कालीन शिक्षित एवं शिष्ट लोगों की भाषा का साहित्यिक रूप है। उस युग में भी अशिक्षित लोगों की भाषा भिन्न प्रकार की रही होगी। साहित्यिक भाषा और लोक-भाषा में प्रत्येक युग में अन्तर होता है; किन्तु साहित्यिक भाषा की आधारभूमि लोक-भाषा ही हुआ करती है। वेद-मंत्रों के अनेक शब्दों को इस कथन के प्रमाणस्वरूप रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ :—

"परि ते दूलभो रथोऽस्माँ अश्नोतु विश्वतः।
येन रक्षसि दाशुषः ॥" ऋक्० ४।६।८

यहाँ 'दुर्लभ' के स्थान पर 'दूलभ' का प्रयोग है जो लौकिक या लोकप्रयुक्त रूप है। स्पष्ट है कि साहित्यिक भाषा के साथ लोक-भाषा भी गतिशील रहती है।

पाणिनि आदि वैयाकरणों के प्रभाव से संस्कृत जब पूर्णरूप से नियमों में जकड़ दी गई तो उसका विकास अवरुद्ध हो गया। किन्तु संस्कृत के दूसरे रूप का विकास होता ही गया जो अशिक्षितों द्वारा व्यवहृत होता था। बहुत बाद में चलकर वही रूप प्राकृत के रूप में प्रकट हुआ।

प्राकृत

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कार-गुण-विवर्जित भाषा प्राकृत कहाती है—

"एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुणः विवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥"

भर्तृहरि के अनुसार प्राकृत दैवी भाषा है जिसका प्रयोग अनादि-काल से चला आ रहा है—

"दैवी वाक् व्यवकीर्णेयम्"—भर्तृहरि।

हेमचन्द्र (१८ वीं शताब्दी) के अनुसार 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'संस्कृत' है और संस्कृत से प्रादुर्भूत भाषा का नाम प्राकृत है—

"प्रकृतिः संस्कृतम् तत्रभवं प्राकृतम्"।

कुछ विद्वान प्राकृत को वेदमूलक भाषा मानते हैं। उनके मत से लौकिक संस्कृत का जन्म प्राकृत से ही हुआ है।

कुछ विद्वानों के अनुसार—"स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्"। ऐसे कथन के समर्थकों का मत है कि वैयाकरणों ने प्राकृत को ही काट-छाँट-कर संस्कृत का नव-निर्माण किया।

प्रकृतिजन्य भाषा ही प्राकृत है। अतः लोक-भाषा ही प्राकृत नाम-वाली हो सकती है। लोक-भाषा ही स्वभावसिद्ध है और यही संस्कार-गुण-विवर्जित भी है। लोकभाषा ही संस्कार प्राप्त कर लेने पर साहित्यिक

भाषा का पद प्राप्त कर लेती है। अतः 'प्राकृत भाषा' शब्द 'लोक-भाषा' शब्द का पर्यायवाची है।

प्रारम्भ में प्राकृत भाषाएँ बोलचाल की भाषाएँ थीं, किन्तु कालान्तर में उनमें भी साहित्य की रचना होने लगी। फिर वह भी साहित्यिक भाषा बन गई। व्याकरण की रचना के बाद उसके भी दो रूप हो गए। एक को हम साहित्यिक प्राकृत और दूसरे को लौकिक प्राकृत कह सकते हैं। व्याकरण आदि की रचना के पश्चात् साहित्यिक प्राकृत का रूप रूढ़ बन गया। उसका विकास रुक गया; किन्तु लौकिक प्राकृत का विकास होता रहा। कालान्तर में प्राकृत का यही लौकिक रूप अपभ्रंश के रूप में प्रकट हुआ।

तत्कालीन वैयाकरणों तथा अलङ्कार-शास्त्रियों के ग्रंथों में प्राकृत भाषाओं के निम्नलिखित नाम मिलते हैं—(१) शौरसेनी प्राकृत, (२) महाराष्ट्री प्राकृत, (३) मागधी प्राकृत, (४) अर्द्ध मागधी प्राकृत और (५) पैशाची प्राकृत। प्राकृत के इन्हीं भिन्न-भिन्न रूपों से अपभ्रंश के भिन्न-भिन्न रूपों का जन्म हुआ।

अपभ्रंश

उपर्युक्त प्राकृत भाषाओं के बाद अपभ्रंश काल आता है। प्राकृत में जब साहित्य की रचना होने लगी तो उसका रूप भी व्याकरण के नियमों से बाँध दिया गया। फिर प्राकृत के भी दो रूप हो गए—साहित्यिक प्राकृत और लौकिक प्राकृत। लौकिक प्राकृत का रूप परिवर्तित होता रहा। कुछ कालोपरान्त उसके शब्द उच्चारण आदि की दृष्टि से विकृत हो गए। साथ ही और भी अनेक परिवर्त्तन हो गए। लौकिक प्राकृत के इस बदले हुए रूप को पंडित लोग प्राकृत का अपभ्रष्ट रूप मानते थे और उसका नाम ही 'अपभ्रंश' रख दिया गया। अपभ्रंश भाषा का अर्थ ही है अपभ्रष्ट (प्राकृत) भाषा।

लौकिक प्राकृत के लिए प्रारम्भ में आचार्यगण 'देशीभाषा' शब्द का प्रयोग करते थे। बाद में चलकर उसका नाम अपभ्रंश पड़ा। पंडित

रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है[1]—"प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य-रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। भरत मुनि ने (वि० तीसरी शती) 'अपभ्रंश' नाम देकर लोक-भाषा को 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' में भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। 'अपभ्रंश' नाम पहले-पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि० सम्वत् ६५० के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। भामह (७ वीं शती) ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है।"

पतञ्जलि (ई० पू० २०० वर्ष) के समय में अपभ्रंश शब्द का तात्पर्य 'अपाणिनीय प्रयोग' था। अपने महाभाष्य में उन्होंने उल्लेख किया है कि एक 'गो' शब्द के बहुत से अपभ्रंश शब्द हैं; जैसे—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका।[2]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार अपभ्रंश भाषा का सम्बन्ध अमीरों से था। (हि० सा० की भू०, सन् १९४८, पृ० २४-२५)। अमीर लोग तथा उनके साथी जहाँ-जहाँ घूमे वहाँ-वहाँ की प्राकृत भाषाओं को अपनाया और उन्होंने अपने स्वभावानुकूल उनमें स्वर तथा अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्त्तन कर लिए। अमीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित, विकृत या विकसित भाषा को ही 'अपभ्रंश' नाम दिया गया।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ६)।

२. "गौरीत्यस्य गावीगोणीगोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः"
—पतञ्जलि। —प्राणिनीय व्याकरण महाभाष्य, १।१।१

काव्यशास्त्रियों या वैयाकरणों ने अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं। शारदातनय (१३वीं शती) के अनुसार अपभ्रंश के भेद इस प्रकार हैं– (१) नागरक, (२) ग्राम्य और (३) उपनागरक। मार्कण्डेय कृत 'प्राकृत सर्वस्व' में अपभ्रंश के तीन भेद (१) नागर, (२) व्राचड़ और (३) उपनागर नाम से किए गए हैं। "नागर गुजरात की भाषा होगी, उपनागर पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की भाषा रही होगी और व्राचड़ लाट और विदर्भ की भाषा कही गई है। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश की चर्चा की है, वह नागर अपभ्रंश है जिसका आधार शौरसेनी प्राकृत है।"[1]

वैसे तो अपभ्रंश में रचनाएँ १७वीं शताब्दी तक होती रही हैं,‡ किन्तु प्रमुखता एवं व्यापकता की दृष्टि से भाषाशास्त्रियों ने ई० सन् ५०० से १००० तक के काल को ही अपभ्रंश-काल माना है। प्राकृत के समान ही अपभ्रंश के रूप भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थे। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश, अर्द्धमागधी प्राकृत से अर्द्धमागधी अपभ्रंश तथा महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश का जन्म हुआ।

हिन्दी (पुरानी हिन्दी)

अपभ्रंश में जब साहित्य की रचना होने लगी तो उसके भी दो रूप हो गए—साहित्यिक अपभ्रंश और लौकिक अपभ्रंश। इसी लौकिक अपभ्रंश का विकसित रूप हिन्दी (पुरानी हिन्दी) के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह लौकिक अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं थी, अपितु भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उसके भिन्न-भिन्न रूप थे।

---

१. हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ० ६)।

‡ नृगांकलेखाचरित्र—भगवतीदास (वि० स० १७००) अपभ्रंश व्याकरण—मार्कण्डेय (ई० स० १७वीं शताब्दी)।

शौरसेनी अपभ्रंश से पंजाबी, बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बुन्देली, कन्नौजी, राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ विकसित हुईं। मागधी अपभ्रंश से बिहारी, उड़िया, बंगला और आसामी विकसित हुईं। अर्द्धमागधी अपभ्रंश से अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी का जन्म हुआ। प्रारम्भिक अवस्था में इन सभी बोलियों या भाषाओं में उतनी भिन्नता नहीं थी जितनी भिन्नता हम आज पाते हैं। यही कारण है कि प्राचीन काल के अनेक कवियों को कई प्रान्तों के लोग एक साथ अपनी प्रान्तीय बोली या भाषा के कवि मानते हैं और कभी-कभी उसे प्रमाणित करने के लिए झगड़ तक जाते हैं।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का काल निर्णय

श्री बालगंगाधर तिलक आदि कतिपय विद्वानों ने वेद की (ऋग्वेद) रचना का समय लगभग ५००० वर्ष ई० पू० माना है। ग्रियर्सन के वैदिक-कालीन लोकभाषाओं को ही प्रथम प्राकृत नाम दिया है। इन प्रथम प्राकृतों का समय भाषाविज्ञानियों के अनुसार ई० पू० २०० वर्ष से लेकर ई० पू० ६०० वर्ष तक है। यह अलकृत संस्कृत साहित्य का काल है। ई० पू० ६०० से लेकर ५०० ई० तक के समय को हम प्राकृत (पालि आदि) का समय कह सकते हैं। इस युग की भाषाओं को ग्रियर्सन ने द्वितीय प्राकृत और डा० चाटुर्ज्या ने मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा बताया है। इस काल की भाषाएँ ही वास्तव में प्राकृत भाषाओं के नाम से विख्यात हैं। अपभ्रंश का काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता रहा है।

अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था से ही हिन्दी का प्रारम्भ हुआ। किन्तु अपभ्रंश की उस अन्तिम अवस्था के समय निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है जहाँ से हिन्दी का प्रारम्भ हुआ। मिश्रबन्धु ने लिखा है—"ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी का उत्पत्तिकाल क्या है! मोटे प्रकार से इसकी उत्पत्ति प्रायः संवत् ७०० के लगभग

समझनी चाहिये, क्योंकि भाषा के प्रथम ग्रंथ का समय संवत् ७७० से है।" पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सं० १०५० से माना है।

साहित्य का इतिहास

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के इतिहास की परिभाषा देते हुए लिखा है—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तप्रवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितिओं का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।"‡

किसी भी साहित्य के सभी (या प्रमुख) लेखकों और कवियों की जीवनी भर लिख देना साहित्य का इतिहास नहीं है और न लेखकों और कवियों के परिचय के साथ उनके ग्रंथों की नामावली और पुस्तकों से उद्धरण दे देना ही साहित्य का इतिहास कहा जा सकता है, अपितु इन सब बातों के अतिरिक्त प्रत्येक युग की प्रवृत्तियों का पृष्ठभूमि के रूप में रखते हुए उनके साथ उस युग के साहित्य का सामंजस्य दिखाना भी साहित्य के इतिहास-लेखक का उद्देश्य होना चाहिए। तभी साहित्य का इतिहास पूर्ण बन सकता है। अतीत के सत्य को अविकृत रूप में उद्घाटन ही इतिहास होता है। अतीत के जय-पराजय, हर्ष-शोक, आशा-निराशा का यथार्थ चित्रण से ही इतिहास गढ़ा जाता है।

---

‡ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रा० च० शु० (१)

हिन्दी साहित्य के इतिहास का इतिहास

किसी भी साहित्य की पूर्ण जानकारी के लिए उस साहित्य के इतिहास का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः प्रत्येक साहित्य में उसका इतिहास अनिवार्य अंग माना जाता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयत्न लगभग पिछले १०० वर्षों से होता चला आ रहा है। इस बीच अनेक इतिहास नामधारी ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ है; किन्तु उनमें से कुछेक को छोड़कर अधिक नाम-मात्र के लिए ही साहित्य का इतिहास हैं। सत्य तो यह है कि अभी तक हिन्दी साहित्य में कोई भी ऐसा पूर्ण साहित्य का इतिहास नहीं लिखा गया है जो सभी दृष्टियों से पूर्ण हो तथा जिसमें प्रारम्भ से लेकर अध्यावधि सामग्रियों की सर्वमान्य व्याख्या और कहानी हो।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास-लेखक विद्वानों के अनुसार, फ्रांस के विद्वान जो फारसी के अच्छे ज्ञाता थे, गर्सां द तासी हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर, ऐं दुई ऐं ऐंदुस्तानी' (१८३९ और १८४६ ई०) है। इसकी रचना फ्रांसीसी भाषा में हुई है। इसमें ७० कवियों का संग्रह वर्णानुक्रम से किया गया है। इसका प्रकाशन दो खंडों में हुआ था। प्रथम खंड १८३९ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा खंड १८४६ ई० में प्रकाशित हुआ। बाद में इसके तीन भाग हो गए। इसमें कवियों के काल-क्रम का निर्वाह नहीं है। मात्र संक्षिप्त विवरण और उदाहरण एकत्र कर दिये गये हैं।

---

[1](i) इतिहास का नया दृष्टिकोण—नामवर सिंह (आलोचना इतिहास विशेषांक, अक्टूबर १९५८)

(ii) हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ और आचार्य शुक्ल की देन—गुलाब राय—॥ ॥

(iii) आदिकाल—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

(iv) हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य के दूसरे इतिहास-लेखक श्रीशिव सिंह सेंगर माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'शिव सिंह सरोज' की रचना १८७७ ई० में की। यह ग्रंथ भी तासी के ग्रंथ के समान मात्र एक संग्रह ही है। यह एक हजार कवियों का एक 'हजारा' है। इसके लेखक ने कवियों की नामावली के साथ संक्षेप में उनका विवरण उदाहरण सहित दिया है। यह ग्रंथ बहुत दिनों तक इतिहासकारों का आधार-ग्रंथ रहा। हिन्दी साहित्य के तीसरे इतिहास-लेखक डा० ग्रियर्सन माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नॉर्दर्न हिन्दोस्तान' की रचना १८८९ ई० में की। यह ग्रंथ प्रधानतः 'शिव सिंह सरोज' पर ही आधारित है। फिर भी इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसमें सर्व-प्रथम काल-विभाजन का प्रयास किया गया है, साथ ही प्रवृत्तियों क निर्देश की प्रवृत्ति भी दिखाई गई है। इसमें कवियों की संख्या ९५८ है। 'शिव सिंह सरोज' की सामग्री को अधिक व्यवस्थित रूप में रखा गया है।

हिन्दी साहित्य के चौथे इतिहास-लेखक के रूप में मिश्र-बन्धुओं के नाम आते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की १९०० से १९११ ई० तक की ८ जिल्दों में प्रकाशित 'खोज रिपोर्टों' के आधार पर मिश्र-बन्धुओं ने १९१३ ई० में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' की रचना की। यह ग्रन्थ संवत् १९७० (१९१३ ई०) में तीन भागों में प्रकाशित हुआ। उसका चौथा भाग जो आधुनिक काल से सम्बन्धित है, संवत् १९९१ (१९३४ ई०) में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य अधिक-से-अधिक साहित्यकारों को प्रकाश में लाना था। यह लगभग ५००० कवियों का विशाल वृत्त संग्रह है। प्रथम तीन भागों में प्राचीन काल के कवियों की नामावली, परिचय और उदाहरण हैं। चौथे भाग में आधुनिक काल के साहित्यिकों की नामावली है। इसमें उन सभी लेखकों और कवियों के नाम का उल्लेख है जिन लोगों ने अपना नाम लेखक या कवि के रूप में मिश्रबंधुओं के पास भेज दिया था। यह

अत्यन्त अव्यवस्थापूर्ण हैं। मिश्रबन्धुओं ने काल-विभाजन में केवल समय को ही महत्त्व दिया है, प्रवृत्तियों को नहीं, अतः वह मात्र 'काल-विभाजन' बनकर ही रह गया है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे कवियों का वर्णन है जिनके नाम और कृतियों के अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं है। मिश्रबंधुओं के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम आता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित होनेवाले ग्रंथ 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में आचार्य शुक्ल ने प्रारम्भ से लेकर उस समय तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय दिया था। बाद में उसी को बढ़ा-चढ़ाकर १९२९ ई० में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कराया। सच्चे अर्थ में यह हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास ग्रन्थ है। उस समय तक प्राप्त सामग्रियों का जितना सुन्दर उपयोग हो सकता था, शुक्लजी ने अपने ग्रंथ में किया। उन्होंने युग तथा साहित्य की सामान्य विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध करने का प्रयास किया।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के कंकाल को आकार भर दिया था। शुक्लजी ने न केवल उसे मांसल बनाया, बल्कि उसमें रक्त-संचार भी किया। उनकी रस-दृष्टि तथा विवेचनाशील प्रतिभा कवियों के मूल्यांकन में अधिक खुली। कवियों के जीवनवृत्त, ग्रंथसूची आदि से आगे बढ़कर उन्होंने कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्घाटन किया। इतिहास के आदि, मध्य और आधुनिक जैसे कोरे कालपरक विभाजन को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति, रीति और मध्य काल की भावपरक क्यारियों में सजाया तथा इन सबका सामान्य परिचय देकर उसमें ऐतिहासिक प्रवाह दिखाया। उनके इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उस काल के कवियों का केवल जीवन-वृत्त और ऐतिहासिक विवरण ही नहीं दिया

गया है वरन् उनकी भाषा के गुण-दोष, उनकी सूक्तियाँ और उनके भाव माधुर्य का भी उल्लेख किया है। कवियों की व्यावहारिक आलोचना के साथ सैद्धान्तिक तथ्यकथन भी चलता गया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ शुक्ल जी के ग्रंथ में कुछ दोष भी हैं, जिन्हें दोष न कहकर शुक्लजी की सीमाएँ कहना अधिक उचित होगा। शुक्लजी के इतिहास के आदिकाल (अपभ्रंश काल और वीर-गाथा काल) का विवेचन आज सर्वमान्य नहीं रहा। इसका प्रधान कारण यह है कि जिस समय शुक्लजी ने अपने ग्रन्थ की रचना की उस समय तक प्राचीन युग की साहित्यिक सामग्री का अनुसंधान एवं शोध-कार्य चल ही रहा था। उस समय तक सभी सामग्री प्रकाश में नहीं आयी थी। अतः उस समय तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही शुक्ल जी को अपने इतिहास के आदिकाल का ढाँचा खड़ा करना पड़ा। उस समय से आज तक अनेक नई पुस्तकें, नये तथ्य तथा सत्य प्रकाश में आ गये हैं, जिनके आधार पर शुक्लजी की अनेक मान्यताओं को आज भ्रामक माना जाने लगा है। कुछ इसी तरह की बात आधुनिक काल के साथ भी है। जिस समय शुक्लजी ने अपने ग्रंथ की रचना की उस समय आज के बहुत प्रसिद्ध कवि तथा लेखक युवक ही थे तथा जिन्होंने उस समय लिखना ही प्रारम्भ किया था। उन लोगों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचार, उन लोगों के द्वारा आजतक रचे गये साहित्य के प्रकाश में अपूर्ण ही कहे जाएँगे। ये दो शुक्लजी की सीमाएँ हैं जिनके कारण हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते।

किन्तु इनके अतिरिक्त उनमें कुछ दोष भी अवश्य हैं जिन्हें हम उनका स्वभाव-गत दोष मानेंगे। स्वभाव से ही शुक्लजी महाकाव्य के प्रेमी थे। यही कारण है कि उनकी जितनी अधिक सहानुभूति महा-काव्य लिखने वाले कवियों (तुलसी, जायसी आदि) को प्राप्त हुई है, उतनी मुक्तक लिखनेवालों को (सूर) नहीं। यद्यपि आचार्य शुक्ल के निर्णय अधिकांश में पक्षपात शून्य हैं, तथापि कहीं-कहीं वे निजी प्रभावों

से ऊपर नहीं उठ सके हैं। शुक्लजी के स्वभाव का यह गुण और दोष दोनों माना जा सकता है कि वे जिस बात को कहते हैं, उसे सिद्ध करने के लिए कुछ उठा नहीं रखते और उसपर ध्रुव की तरह अटल रहते हैं चाहे दूसरे पक्ष की अवहेलना का दोष ही उनपर क्यों न लागू हो जाय।

शुक्लजी के बाद १६३० ई० में डा० श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक इतिहास ग्रंथ लिखा। इनकी पुस्तक में शुक्लजी की दृष्टि की सूक्ष्मता और गहराई का अभाव है। डा० श्यामसुन्दर दास ने शुक्लजी के इतिहास के विच्छिन्न-प्रवाह को क्रमसंख्या, रचनाओं का नमूना आदि बातें घटाकर अविच्छिन्न-सा दिखलाने का प्रयास किया। उन्होंने शुक्लजी की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन और भी विस्तारपूर्वक किया। इसमें भाषा और साहित्य दोनों का ही विकास दिया गया है।

डा० श्यामसुन्दर दास जी के इतिहास के पश्चात् संक्षिप्त, मध्यम, सरल और सुबोध अनेक छात्रोपयोगी इतिहास-पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें मौलिकता का प्रायः अभाव-सा था। नकल छिपाने के लिये कहीं-कहीं शुक्लजी की तथ्य-सम्बन्धी भूलों का सुधार और अधिक-से-अधिक कालों के नाम-परिवर्त्तन का सुझाव मिलता है। फिर भी उनमें से कई महत्त्वपूर्ण भी हैं। उदाहरण के लिये डा० सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का विकास' तथा डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' प्रमुख हैं। डा० सूर्यकान्त शास्त्री के इतिहास में अंग्रेजी साहित्य से तुलना की प्रवृत्ति अधिक है। डा० रामकुमार वर्मा का इतिहास अपूर्ण ही है। उसमें केवल आदिकाल और भक्तिकाल का विवेचन है। किन्तु इन दो कालों का विवेचन वर्माजी ने बहुत विस्तारपूर्वक किया है। विषय की पूर्णता और भाव विश्लेषण की गहराई की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत ही उपादेय है।

शुक्लजी के बाद साहित्य के इतिहास-लेखकों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व सर्वाधिक विराट है। इतिहास सम्बन्धी द्विवेदी जी के तीन ग्रंथ अबतक प्रकाशित हुए हैं। उनकी सबसे पहली इतिहास-सम्बन्धी पुस्तक है 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' जो १६४० ई० में प्रकाशित हुई थी। पूर्ववर्त्ती व्यक्तिवादी इतिहास-प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करनेवाली यह पहली हिन्दी-पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सरणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया। हिन्दी-साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिये आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी-साहित्य का निरूपण किया। परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी-साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था।

द्विवेदीजी की दूसरी पुस्तक 'आदिकाल' बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् द्वारा १६५२ ई० में प्रकाशित कराई गई। यह पुस्तक परिषद् में दिये गये उनके पाँच व्याख्यानों का संग्रह है जिसमें हिन्दी-साहित्य के आदि-काल पर प्रकाश डाला गया है। शुक्लजी के इतिहास के आदिकाल के विवेचन की त्रुटियों का परिहार इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है, हिन्दी-साहित्य की आदिकालीन सामग्री पर प्रकाश डालनेवाला यह ग्रंथ अद्वितीय है। आदिकालीन ग्रंथों की प्रामाणिकता पर भी इस ग्रंथ में बड़ी विद्वतापूर्वक विचार किया गया है। अपभ्रंश साहित्य (पुरानी हिन्दी) का भी संक्षेप में इस पुस्तक से अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की तीसरी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य' १६५५ ई० में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी-साहित्य का पूर्ण इतिहास ग्रंथ है जिसमें संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला गया है। यह ग्रंथ शुक्लजी के बाद के इतिहास ग्रंथों की अपेक्षा

अधिक मौलिक है। किन्तु 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'आदिकाल' के बाद जिस प्रकार के इतिहास ग्रंथ की अपेक्षा विद्वान लोग द्विवेदीजी से करते थे, उसके अनुरूप यह ग्रन्थ नहीं बन पड़ा है। ग्रंथ इतना संक्षिप्त हो गया है कि पढ़ते समय प्रतीत होता है, जैसे लेखक शीघ्रता में लिख रहा हो। पुस्तक में द्विवेदीजी ने कहीं-कहीं ऐसी बातें लिख दी हैं जिनसे हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी भ्रम में पड़ जाता है; जैसे—भक्तिकाल से लेखक ने 'वास्तविक' हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ माना है। इस तरह से हिन्दी-साहित्य का विभाजन करना लोगों को भ्रम में डाल देता है। फिर भी आधुनिक इतिहास ग्रंथों में यह अनुपम है।

काल-विभाग

साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के कई आधार हो सकते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—समय, प्रमुख साहित्यकार और प्रमुख प्रवृत्ति। इनमें से चाहे किसी को आधार बनाकर काल-विभाजन और नामकरण किया जाय, उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ रहेंगी ही।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास मिश्रबन्धुओं ने किया। उन्होंने सम्पूर्ण इतिहास को आठ भागों में बाँट दिया—

१. पूर्वारम्भिक काल	संवत् ७००–१३४३
२. उत्तरारम्भिक काल	,, १३४४–१४४४
३. पूर्वमाध्यमिक काल	,, १४४५–१५६०
४. प्रौढ़ माध्यमिक काल	,, १५६१–१६८०
५. पूर्वालंकृत काल	,, १६८१–१७९०
६. उत्तरालंकृत काल	,, १७९१–१८८९
७. परिवर्त्तन काल	,, १८९०–१९२५
८. वर्त्तमान काल	,, १९२६–अब तक

मिश्रबन्धुओं ने यह विभाजन समय को आधार मानकर किया है। यह पद्धति बहुत लाभप्रद नहीं जान पड़ती।

शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार भागों में बाँटा है—

१. आदिकाल (वीरगाथा-काल) संवत् १०५०–१३७५
२. पूर्व मध्यकाल (भक्ति-काल) ,, १३७५–१७००
३. उत्तर मध्यकाल (रीति-काल) ,, १७००–१९००
४. आधुनिक काल (मध्य काल) ,, १९००–१९८४

विभाजन के आधार और उसके नामकरण के कारणों का उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—"यद्यपि इन कालों की रचनाओं की 'विशेष प्रवृत्ति' के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्ति-काल या रीति-काल को लें तो उसमें वीररस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग की होगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी।"[1] स्पष्ट है कि शुक्लजी के काल-विभाजन का आधार युग विशेष के साहित्य की 'मुख्य प्रवृत्ति' है। यही कारण है कि शुक्लजी का विभाजन अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक लगता है।

शुक्लजी के बाद के इतिहासकारों ने काल-विभाजन में बहुत कुछ उन्हीं का अनुकरण किया। केवल मौलिकता लाने के लिए कहीं-कहीं समय में कुछ परिवर्त्तन कर दिया गया है तो कहीं नाम बदल दिया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने शुक्लजी के विभाजन और नामकरण को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है, लेकिन आदिकाल (वीरगाथा-काल) का समय सं० १०५० से १४०० तक माना है। शुक्लजी ने उसे सं० १३७५ तक ही माना है।

डा० रामकुमार वर्मा ने आदिकाल का प्रारम्भ संवत् १००० से ही माना है। उन्होंने अपभ्रंश काल का नाम 'संधि-काल' तथा वीरगाथा-

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल–पृष्ठ (१)।

काल का नाम 'चारण-काल' दिया है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश काल को 'पुरानी हिन्दी का काल' कहना अधिक पसन्द करते थे। पं० राहुल सांकृत्यायन के अनुसार आदिकाल के भीतर अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था के साहित्य की भी गणना होनी चाहिए, क्योंकि वह हिन्दी का ही साहित्य है। इस काल का नाम उनके अनुसार 'सिद्ध सामन्तकाल' होना चाहिए।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने १००० ई० से १४०० ई० तक के समय को आदिकाल माना है। उसके पहले के साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"इस काल तक लोकभाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है वह परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही साहित्य है, उसमें हिन्दी भाषा का रूप स्पष्ट नहीं हुआ है।"[1] यही कारण है कि अपभ्रंश साहित्य का विवेचन उन्होंने 'प्रस्तावना' में ही कर दिया है। उनके अनुसार 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' भक्ति-युग से हुआ।

उपर्युक्त विवेचनों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने शुक्लजी के काल-विभाजन का ही अनुकरण किया है। उसमें केवल 'गुलेरी' जी और पं० राहुल सांकृत्यायन का मत कुछ अधिक बल रखता है। वस्तुतः सं० ७०० के बाद से लेकर सं० १०५० तक का अपभ्रंश साहित्य, अपभ्रंश का साहित्य नहीं, अपितु 'पुरानी हिन्दी का साहित्य' है। अतः हिन्दी के आदिकाल का प्रारम्भ सं० १०५० से न मानकर सं० ७०० के बाद से ही मानना अधिक समीचीन होगा। यह सत्य है कि इस अवधि में हिन्दी भाषा का कंठस्वर स्पष्ट नहीं हुआ था। उसमें तुतलाहट की मात्रा अधिक थी। लेकिन उस दृष्टि से तो हिन्दी का स्वर १५वीं-१६वीं शताब्दी तक भी स्पष्ट नहीं हुआ था।

---

१. हिन्दी-साहित्य—डा. ह. प्र. द्वि. (पृ. ८)

अतः मेरे विचार से हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन निम्नलिखित रूप से होना चाहिए—

आदिकाल—(प्राचीन हिन्दी-काल) अपभ्रंश काल—
सं० ७००-१०५० ।
वीरगाथा-काल—सं० १०५०—१३७५ ।

मध्यकाल—भक्ति-काल—सं० १३७५—१७०० ।
रीति-काल—सं० १७००—१६०० ।

आधुनिक काल—(सं० १६००—१६५७) ।
गद्य साहित्य—सं० १६००—१६५७ ।
पद्य साहित्य—सं० १६००—१६५७ ।

अगर उपर्युक्त रीति से हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया जाय तो बहुत सारे विवादास्पद समस्याओं का समाहार हो जाता है ।

प्रकरण—२

आदिकाल

(प्राचीन हिन्दी का काल) अपभ्रंश काल—संवत् ७००-१०५०

सामान्य स्थिति

संसार की किसी भी भाषा के साहित्य का प्रारम्भिक काल अनेक विरोधों और स्वतोव्याघातों से पूर्ण होता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है[१]—'शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गईं थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में, अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्री हर्ष के नैषध चरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।" स्पष्ट है कि यह संक्रान्ति का काल था, जबकि भाषा, भाव, दर्शन, साहित्य, राजनीति सब में मंथन हो रहा था।

इसी मंथन के युग में हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रारम्भ हुआ और इस साहित्य को जन्म देनेवाले थे वज्रयानी तथा सहजयानी बौद्ध-सिद्ध, जैनी और नाथपंथी।

---

१. आदिकाल—डा० ह० प्र० द्वि० (पृ० ५)

क्या अपभ्रंश की अंतिम अवस्था के साहित्य को 'पुरानी हिन्दी' का साहित्य कहा जा सकता है?

यह निर्विवाद सत्य है कि जिस प्रकार लौकिक प्राकृत परिवर्त्तित होकर 'अपभ्रंश' बन गई उसी प्रकार लौकिक अपभ्रंश ही परिवर्त्तित या विकसित होकर हिन्दी या हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों में प्रकट हुई। एक भाषा का बदल कर दूसरी भाषा के रूप में आने में सैकड़ों वर्ष लगते हैं। साथ ही उन दो भाषाओं के बीच हम ऐसी कोई निश्चित सीमा-रेखा नहीं खींच सकते जिसके सहारे प्राचीन और नवीन भाषा को अलग-अलग भागों में बाँटा जा सके। अपभ्रंश का समय साधारणतः संवत् ५०० से संवत् १००० तक माना जाता है। इस अवधि में हिन्दी का प्रारम्भ कहाँ से माना जाय, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। इस प्रश्न पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया था। उन्होंने लिखा है[1]—"हिन्दी की उत्पत्ति संवत् ७०० के आसपास मानी गई है, क्योंकि पुंड अथवा पुष्य नामक हिन्दी का पहला कवि ७७० संवत् में हुआ।" पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण में आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया था। उन्होंने कारण का उल्लेख करते हुए लिखा था कि "वे सदा से भाषा-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रही हैं।" किन्तु इन विद्वानों ने पूर्ण विश्वास के साथ यह बात नहीं कही थी।

अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी का साहित्य प्रमाणित करनेवालों में स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं० राहुल सांकृत्यायन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहकर पुकारनेवाले सबसे पहला व्यक्ति 'गुलेरी' जी थे। उन्होंने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के

---

१. मिश्रबन्धु विनोद—(पृ० ८)

नवीन संस्करण (भाग—२) में बहुत दृढ़तापूर्वक लिखा था कि अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना ही उचित है। उन्होंने उस समय तक उपलब्ध 'अपभ्रंश की सामग्री का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया था। किन्तु उन दिनों अपभ्रंश की बहुत अल्प रचनाएँ ही उपलब्ध थीं।

'गुलेरी' जी के बाद इस मत के सबसे बड़े पोषक पं० राहुल सांकृत्यायन हैं। उहोंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-काव्य-धारा' में अपभ्रंश रचनाओं के साथ-साथ उनका हिन्दी रूप देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि वस्तुतः अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी का ही साहित्य है। सर्वप्रथम जब उन्होंने बौद्ध-सिद्धों के पदों और दोहों को हिन्दी कहा था तो बँगला के विद्वानों ने उसका बहुत विरोध किया था, क्योंकि वे लोग उसे बँगला मानते थे।

इस प्रकार के भ्रम का कारण है,—अपभ्रंश के भिन्न-भिन्न रूपों में अद्भुत् समता। हेमचन्द्र ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है—एक साहित्यक अपभ्रंश, जिसके व्याकरण के रचयिता वे स्वयं थे, और दूसरी 'ग्राम्य' अपभ्रंश, जिसमें 'रासक' 'डोम्बिका' आदि की श्रेणी के गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। इसी के अन्तर्गत बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैङ्गलम में उद्धृत अनेक पद, संदेश-रासक तथा अन्य अनेक रचनाएँ आती हैं। अपभ्रंश का यही रूप आगे चलकर 'देशी भाषा' के भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुआ। इसकी भाषा, शैली तथा छंद सभी परवर्ती हिन्दी-साहित्य में आ गये हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसे 'हिन्दी-साहित्य के विकास के प्रसंग में विवेच्य' माना है।

'गुलेरी' जी ने तो अपभ्रंश के पहले रूप में लिखे साहित्य को भी पुरानी हिन्दी का साहित्य माना है। उन्होंने लिखा है—"यदि यह भाषा साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं हैं।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है[1]—"जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरीजी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता। परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिंदी का परवर्ती साहित्य, अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।" किंतु द्विवेदी जी अपभ्रंश के दूसरे रूप—'ग्राम्य' अपभ्रंश में रचे गए साहित्य को हिन्दी-साहित्य में विवेच्य माना है। अब प्रश्न उठता है कि अपभ्रंश का कितना साहित्य, साहित्यिक अपभ्रंश का है और कितना 'ग्राम्य' अपभ्रंश का ?

मेरे विचार से साहित्यिक अपभ्रंश या परिनिष्ठित अपभ्रंश के परवर्ती काल के साहित्य की भाषा भी बहुत कुछ 'ग्राम्य' अपभ्रंश के साहित्य की भाषा के निकट ही होगी। दूसरी ओर परवर्ती हिन्दी-साहित्य की परम्परा के ज्ञान के लिये भी हमारे लिये अपभ्रंश के दोनों रूपों के साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। इन दृष्टियों से देखने पर मुझे तो इस संबंध में अन्य विद्वानों की अपेक्षा गुलेरीजी और पं० राहुल सांकृत्यायन के विचार ही अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। गुलेरीजी ने परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा को 'पुरानी हिंदी' प्रमाणित करते हुए लिखा है कि "कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक-सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की भाषा ब्रजभाषा कहलाती थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिंदी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।"

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार तीन बातें स्पष्ट होती हैं:—(१) जिस प्रकार परिनिष्ठित अपभ्रंश में साहित्य की रचना हुई उसी प्रकार 'ग्राम्य' अपभ्रंश में भी 'डोम्बिका', 'रासक' आदि श्रेणी के साहित्य की सृष्टि हुई। (२) 'ग्राम्य' अपभ्रंश का साहित्य 'पुरानी हिन्दी' का साहित्य है। (३) परवर्ती हिन्दी-साहित्य की परम्परा के ज्ञान के लिए 'ग्राम्य' अपभ्रंश

---

१. हिन्दी-साहित्य—(पृ० १७)।

के साहित्य के साथ-साथ परिनिष्ठित अपभ्रंश के साहित्य का अध्ययन भी आवश्यक है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने पर मेरी दृष्टि से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि परवर्ती अपभ्रंश के (संवत् ७०० के बाद से) साहित्य को 'पुरानी हिन्दी' का ही साहित्य माना जाय, क्योंकि संवत् ७०० के बाद के अपभ्रंश साहित्य में परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्य और 'ग्राम्य' अपभ्रंश का साहित्य जैसा भेद करना विषय को और भी जटिल बना देना होगा।

अपभ्रंश साहित्य की खोज†

जैन अपभ्रंश :—अपभ्रंश साहित्य की ओर सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय जर्मनी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री पं० पिशेल को है। उन्होंने १८७७ ई० में जर्मनी के हाल नामक नगर में हेमचन्द्र के प्रसिद्ध व्याकरण 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया। हेमचन्द्र के व्याकरण में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश है। अपभ्रंश का विवेचन पुस्तक के अंत में है। अपभ्रंश के प्रकरण में उदाहरण बताने के लिए हेमचन्द्र ने पूरे-पूरे दोहे उद्धृत किए हैं, जिससे अपभ्रंश के प्रति उनका मोह झलकता है। पिशेल ने इस ग्रंथ के अपभ्रंश अंश को लेकर एक विस्तृत विवेचनात्मक पुस्तक की भी रचना की। पिशेल का अनुमान था कि इस देश में किसी समय अपभ्रंश का बहुत विशाल साहित्य रहा होगा; लेकिन उसका विश्वास था कि वह साहित्य अब खो गया है। फिर भी अपभ्रंश साहित्य की खोज के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया। फलतः उन्होंने हेमचन्द्र के व्याकरण के अतिरिक्त विक्रमोवर्शीय, सरस्वती कण्ठाभरण, वैताल पञ्चविंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका और प्रबंध-

---

† आदिकाल—डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ. ३ से १० तक)।

चिंतामणि आदि ग्रन्थों में पाए जानेवाले अपभ्रंश पद्यों को तथा प्राकृत पैंगलम् में उदाहरणस्वरूप उद्धृत कविताओं का ढूँढ़ निकाला। सन् १९०८ ई० में उन्होंने "माटेरियालियन् सुरकेण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को अपने प्राकृत व्याकरण का परिशिष्ट कहकर प्रकाशित किया। पिशेल को विद्वान् लोग अपभ्रंश का पाणिनि कहकर पुकारते हैं। मुनिजिनविजयजी ने उसे "पाणिनि-स्मृत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार" कहा है।

पिशेल के बाद बहुत दिनों तक गुणे, बैनर्जी, शास्त्री, गुलेरी आदि विद्वान यही विश्वास करते रहे कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। किन्तु १९१३—१९१४ ई० में डा० हरमन याकोबी नामक एक दूसरे जर्मन पंडित इस देश में आये। ये जैनशास्त्रों के अच्छे पंडित माने जाते थे। इन्हें अहमदाबाद के जैन भण्डार में एक साधु के पास 'भविसयत्त-कहा' नामक पुस्तक देखने को मिली। यह अपभ्रंश का काव्य था। याकोबी ने बड़ी कठिनता से उस पुस्तक की प्रतिलिपि कराई। फिर उन्हें राजकोट के एक अन्य जैन मुनि के पास 'नेमिनाथ चरित' प्राप्त हुआ। अपने देश लौटने के बाद याकोबी ने उन पुस्तकों को प्रकाशित कराया। सन् १९१८ ई० में म्यूनिक की रॉयल एकेडेमी ने याकोबी द्वारा सम्पादित 'भविसयत्त-कहा' प्रकाशित की। फिर लगभग तीन वर्षों के बाद 'नेमिनाथ चरित' में से एक अंतःकथा—'सणंकुमारचरिउ'—लेकर उसे सम्पादित करके प्रकाशित कराया।

इधर सन् १९१४ ई० में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने, बड़ौदा के महाराज सर सयाजी गायकवाड़ की आज्ञा से, पाटण के जैन-ग्रंथ-भंडार की हजारों पुस्तकों की परीक्षा के उपरान्त कई अपभ्रंश पुस्तकों का पता लगाया जिनमें सन्देश रासक, चच्चरी, भावनासार, परमात्म प्रकाश, भविसयत्त कहा, पउमसिरी चरिउ आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त व्रजस्वामि चरित, अंतरंग संधि, चौरंग-

संधि, सुलसाख्यान, आराधना, मयणरेहा संधि, नमयासुन्दरि संधि आदि अप्रकाशित हैं।

सन् १९१८ ई० में 'भण्डारकर रिसर्च इन्सीट्यूट' की स्थापना हुई। वहाँ डैकन कॉलेज में सुरक्षित प्रतियाँ लाई गईं। सुप्रसिद्ध विद्वान मुनि जिन विजयजी ने उन प्रतियों का अवलोकन और परीक्षण कर अनेक अपभ्रंश ग्रंथों का पता लगाया। उन पुस्तकों में पुष्फयन्त या पुष्पदन्त का तिसट्ठी लक्खण महापुराण, स्वयम्भू का पउमचरिउ, हरिवंश पुराण आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

उन्हीं दिनों पं. नाथूराम प्रेमी ने जसहर चरिउ और णायकुमार चरिउ नामक दो और अपभ्रंश ग्रंथ खोज निकाले। प्रो० हीरालाल जैन ने कारंजाँ के जैन-भांडार से करकण्डु चरिउ, सावयधम्म दोहा, पाहुड़ दोहा आदि कई ग्रन्थों को खोजकर प्रकाशित कराया।

सन् १९५० ई० में श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. शास्त्री के सम्पादकत्व में आमेर-शास्त्र भंडार (जयपुर) के ग्रंथों का एक प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें लगभग ५० अपभ्रंश ग्रंथों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें स्वयं भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचंद हरिषेण, अमरकीर्त्ति, यशःकीर्ति, धनपाल श्रुतिकीर्ति और माणिक्यराज आदि की कीर्तियाँ हैं। इनमें से अधिकाश की रचनायें १३वीं शताब्दी के बाद की बताई गई हैं।

जैनेतर अपभ्रंश

सर्वप्रथम चन्द्रमोहन घोष ने सन् १९०८ ई० में 'प्राकृत पैंगलम्' नामक ग्रंथ का सम्पादन किया था। इसका प्रकाशन बिब्लयोथिका इंडिका सिरीज में हुआ। सन् १९१६ ई० में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश रचनाओं को प्रकाशित कराया। इसका प्रकाशन बंगाक्षरों में हुआ था। इसकी भाषा को पण्डितजी ने बंगला माना था। इसके प्रकाशन के २० वर्ष बाद पं. राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भाषा को जब हिन्दी घोषित किया

तो बंगाल के विद्वानों ने उसका बहुत विरोध किया। इस भ्रम का कारण था उसकी भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न का प्रयोग। उसकी भाषा को बँगला, मघई, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया सभी का पूर्व रूप कहा जा सकता है। उसकी भाषा को बँगला नहीं मानने का प्रधान कारण दोहों की प्रथा का बँगला साहित्य में सदा से अभाव होना बताया जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार बँगला भाषा की एक ऐसी उच्चारण विशिष्टता है कि दोहा छन्द उसमें जम ही नहीं पाता।

डा० प्रबोधचन्द बागची ने सन् १९१८ ई० और १९२१ ई० के जनरल ऑफ डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स (कलकत्ता विश्वविद्यालय) में कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराए। सन् १९४५ ई० में राहुलजी ने 'हिन्दी-काव्यधारा' नाम से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया। इसमें इन्होंने स्वयम्भू की रामायण के महत्त्व-पूर्ण कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रकाशित कराया और बहुत दृढ़कंठ से स्वयंभू को हिन्दी के सर्वोत्तम कवि घोषित किया। राहुल की इस घोषणा के कारण हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुआ।

इसके बहुत पूर्व डा० ग्रियर्सन ने विद्यापति की दो पुस्तकों—कीर्तिलता और कीर्तिपताका की सूचना दी थी। सन् १९२४ ई० में पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कीर्तिलता को बंगाक्षरों में प्रकाशित कराया था। बाद में यह पुस्तक सन् १९२९ ई० में डा० बाबूराम सक्सेना के द्वारा अनूदित और सम्पादित होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की भाषा को स्वयं कवि ने अवहट्ठ (संस्कृत 'अपभ्रष्ट' अर्थात् अपभ्रंश) कहा था।

सन् १९०१ ई० में हरप्रसाद शास्त्री ने मिथिला के कवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा लिखित 'वर्णरत्नाकर' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का पता दिया। सन् १९४० ई० में डा० सुनीति कुमार चटर्जी और पं० बबुआ मिश्र के सम्पादकत्व में 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' से

'मानसोल्लास' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। सुनीति बाबू ने इसे संस्कृत के विश्वकोषात्मक ग्रन्थ मानसोल्लास का समकक्ष ही बताया है। मुनि जिन विजय जी के द्वारा दामोदर शर्मा की लिखी 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक एक और पुस्तक प्रकाश में आयी है।

सन् १९३४ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से श्रीराम सिंह, श्रीसूर्यकरण पारीक और नरोत्तमस्वामी ने राजस्थानी साहित्य के आदिकाव्य 'ढोला मारूरा दूहा' का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया। इसकी भाषा देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय हिन्दी और राजस्थानी में नहीं के बराबर भिन्नता थी।

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अपभ्रंश भाषा की अनेक पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं।

बज्रयानी सिद्ध और उनका साहित्य+

सिद्ध कौन थे ?

सिद्धों का परिचय देते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है[1]—"बौद्ध-धर्म विकृत होकर बज्रयान समुदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं।"

शुक्लजी के कथन की आलोचना करते हुए डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है*—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपनी उग्र शुद्धतावादी

+यह प्रकरण डा० धर्मवीर भारती के ग्रन्थ 'सिद्ध साहित्य' को आधार बनाकर लिखा गया है।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—(पृ० ७)।

* हिन्दी-साहित्य—(पृ० ७५–७६)।

(प्योरिटिन) दृष्टि के लिए प्रख्यात थे। उन्होंने भट्टाचार्य के मत का आश्रय लेते हुए, अपने इतिहास में इन सिद्धों के साहित्य को बौद्ध-धर्म की विकृत और अस्वस्थ अवस्था का साहित्य बताया और इन सिद्धों पर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने इस बौद्ध-वामाचार को अपनी चरम-सीमा पर पहुँचा दिया और न केवल स्वतः वे इस पाप-पंक में गिरे वरन् जनता को भी उसमें गिराना चाहा, अतः देशी भाषा में रचना की ताकि जनता पर उसका संस्कार पड़ सके।'' डा० भारती के अनुसार ये सिद्ध न तो शाब्दिक अर्थ में वामाचारी थे और न पापपंक में लिप्त ही। समाज में इनका सम्मान था। पूर्वी भारत में ये सिद्ध राजदरबारों में सम्मिलित होते थे, राजाओं के आचार्य थे और राजनीति-निर्धारण में भी उनका योग रहता था। बौद्धधर्म लोकतत्त्व को प्रारम्भ से ही प्रश्रय देता रहा है। उसी के अन्तर्गत बज्रयानी सिद्धों ने सहज पद्धति का भी विकास किया।

शुक्लजी ने कुछ सिद्धों के दोहों और पदों का उद्धरण देते हुए जो आलोचना दी है, वह भ्रमात्मक है। कारण यह है कि वे उन दोहों और पदों के सांकेतिक अर्थ को समझ नहीं सके थे। साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी के बिना सिद्धों के पदों का अर्थ नहीं लगाया जा सकता।

बौद्धों की बज्रयानी शाखा का आविर्भाव महायानी शाखा से हुआ था। महायानी शाखा में शून्यवाद और विज्ञानवाद पर बहुत जोर दिया जाता था। साधारण जनता के लिए इस प्रकार का अध्यात्मवाद बहुत ही कठिन और शुष्क था। अतः बज्रयानी बौद्ध योग, देवपूजा, मंत्र, सिद्धि, विषयभोग आदि से सम्मिश्रित 'महासुखवाद' लेकर आए। सहजयानियों का लक्ष्य भी महापुरुष अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति था। अन्त में सहजयानी बौद्धों में भी यंत्र-मंत्र, जादू-टोना आदि के ढोंग समाविष्ट हो गए।

प्रमुख सिद्ध

सिद्धों की संख्या ८४ मानी गई है। डा० भारती के अनुसार यह संख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक मालूम होती है। तन्त्रों में ८४ संख्या का एक विशेष महत्त्व है और उसके गूढ़ तान्त्रिक अभिप्राय हैं। तन्त्रों में, योग में आसन भी ८४ माने गए हैं और वहाँ भी इस संख्या का सांकेतिक महत्त्व है। टुची इसे १२ राशियों तथा सात ग्रहों का गुणनफल मानते हैं। यह ८४ संख्या लगभग प्रत्येक तान्त्रिक सम्प्रदाय में स्वीकृत थी। अतः सिद्धों की संख्या भी ८४ मानी गई है।

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन द्वारा निर्दिष्ट बज्रयानी सिद्धों की सूची, जिसका मुख्य आधार तिब्बत के सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७६) की ग्रन्थावली है जो तेर्गी मठ में छपी है। इसमें सिद्धा की जाति तथा देश का भी उल्लेख है।

१—लूइपा (कायस्थ, मगध) २—लीलापा ३—विरुपा (मगध) ४—डोम्बिपा (क्षत्रिय, मगध) ५—शवरपा (क्षत्रिय, विक्रमशिला) ६—सरहपा (ब्राह्मण, नालंदा) ७—कंकालीपा (शूद्र, मगध) ८—मीनपा (मछुआ, कामरूप) ९—गोरक्षपा १०—चौरंगीपा ११—वीषापा (राजकुमार गौड़, बिहार) १२—शान्तिपा (ब्राह्मण, मगध) १३—तन्तिपा (तँतवा, सोंधोनगर) १४—चमारिपा (चर्मकार, विष्णुनगर) १५—खड्गपा (शूद्र, मगध) १६—नागार्जुन (ब्राह्मण, काँची) १७—कण्हपा (कायस्थ, सोमपुरी) १८—कर्णरिपा या आर्यदेव (नालन्दा) १९—थगनपा (शूद्र, पूर्वभारत) २०—नारोपा (ब्राह्मण, मगध) २१—शालीपा या श्रीलपा (शूद्र, विघसुर) २२—तिलोपा (ब्राह्मण, भिगुनपुर) २३—छत्रपा (शूद्र, संघोनगर) २४—भद्रपा (ब्राह्मण, मणिधर) २५—दोखंधि या द्विखंडिपा (गंधपुर) २६—अजोगिपा २७—कालपा (राजपुर) २८—धोम्भिपा (धोबी, सालिपुत्र) २९—कंकणपा (राजकुमार, विष्णुनगर) ३०—कमर

या कंबलपा (उड़ीसा) ३१—डेंगिपा (ब्राह्मण, उड़ीसा) ३२—भदेपा (श्रावस्ती) ३३—तंतेपा (शूद्र, कौशाम्बी) ३४—कुकुरिपा (ब्राह्मण, कपिलवस्तु) ३५—कुसूलिपा (शूद्र) ३६—धर्मपा (ब्राह्मण, विक्रमशिला) ३७—महीपा (शूद्र, मगध) ३८—अचिंतिपा (लकड़हारा) ३९—भलह या भवपा (क्षत्रिय, धंजुरदेश) ४०—नलिनपा (सालिपुर) ४१—मुसुकपा (राजकुमार, नालन्दा) ४२—इन्द्रभूति (राजा, लंकापुर) ४३—मेकोपा (वणिक) ४४—कुढालि (रामेश्वर) ४५—कमरि या कम्परिपा (लोहार, सालिपुत्र) ४६—जालन्धरपा (ब्राह्मण, नगर भो····) ४७—राहुलपा (शूद्र, कामरूप) ४८—धर्वरि या धर्मरिपा (बोधिनगर) ४९—धोकरिपा (शूद्र, सालिपुत्र) ५०—मेदनिपा (लाखपुय) ५१—पंकजपा (ब्राह्मण) ५२—बज्र या घंटपा (क्षत्रिय, वारेन्द्र) ५३—जोगीपा या अजोगिपा (डोम, उडन्तपुरी) ५४—चेलकपा (शूद्र, भंगलपुर) ५५—गुंडरिपा (चिड़ीमार, डिसुनगर) ५६—लुचिकपा (ब्राह्मण, मंगलपुर) ५७—निर्गुणपा, ५८—जयानन्त, ५९—चर्पटी या पचरीपा (कहार, चम्पा) ६०—चम्पकपा (राजकुमार) ६१—(शूद्र, सालिपुत्र) ६२—मलिपा (कृष्णघृत वणिक, सतपुरी) ६३—कुमरिपा (जोमन श्रीदेश) ६४—चवरिपा, ६५—मणिभद्रा या योगिनी (गृहदासी, मगध) ६६—मेखलापा या योगिनी (गृहपतिकन्या, अगचेनगर) ६७—कनखलापा या योगिनी (देवीकोट) ६८—कलकलपा (शूद्र, मिरलिरनगर) ६९—कंताली या कंथालिपा (दर्जी, मणिधर), ७०—धहुलि या धहुरिपा (शूद्र, घेकरदेश) ७१—उधलि या उधरिपा (वैश्य, देवीकोट) ७२—कपाल या कपालपा (शूद्र, राजपुरी) ७३—किलपा (राजकुमार) ७४—सागरपा (राजा, काँची) ७५—सर्वभक्षपा (शूद्र, महर) ७६—नागबोधिपा—(ब्राह्मण, पश्चिम भारत) ७७—दरिकपा (राजा, उड़ीसा) ७८—पुतुलिपा (शूद्र, मंगल देश) ७९—पनह या उपानह (चमार, सन्धोनगर) ८०—कोकालिपा (राजकुमार, चम्पारन) ८१—अनंगपा (शूद्र, गौड़) ८२—लक्ष्मी-

करा (राजकुमारी, संभलनगर) ८३—समुदपा (सर्वडिदेश) ८४–भलि या व्यालिपा (ब्राह्मण, अपत्रदेश) ।

सरहपाः—कुछ विद्वानों ने सरहपा को आदि सिद्ध माना है। दोहा तथा पदकर्ता के रूप में सरहपा का सर्वाधिक महत्त्व है। इनके सरोरुहवज्र, सरोजवज्र, पद्म, पद्मवज्र तथा राहुलभद्र नाम भी बताए जाते हैं। सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व उनका नाम राहुलभद्र था और चूँकि सिद्धि में इन्होंने एकबार शर बनानेवाली युवती को महामुद्रा बनाया था अतः इनका नाम शरह या सरह हो गया। सुम्पग्खनपो के अनुसार सरह का जन्म राज्ञी नामक नगरी में ब्राह्मण पिता और डाकिनी के योग से हुआ था। तारानाथ के अनुसार इनका जन्म उड़ीसा में हुआ। तारानाथ के अनुसार शैशव में ही ये वेद-वेदांगों के ज्ञाता हो गए थे। मध्यदेश में जाकर इन्होंने त्रिपिटकों का अध्ययन किया, बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली और नालन्दा में आकर आचार्य के रूप में रहने लगे। उड़ीसा के एक आचार्य से इन्होंने मंत्रयान की दीक्षा ली और महाराष्ट्र जाकर एक शर बनानेवाले की कन्या के साथ महामुद्रा योग सम्पन्न कर सिद्धि लाभ की। तंजूर में इनके २१ ग्रन्थ बताए गए हैं। संस्कृत में इनके नाम से दो त्रैलोक्य व शंकर की साधनाएँ भी मिलती हैं। इनका समय ८ वीं शती बताया जाता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय सं० ६६० निश्चित किया है।

"जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि बट चित्त विसाम करु, सरेहे कहिअ उवेस ॥"—सरहपा।

शवरपाः—ये सरह की शिष्य-परम्परा में तीसरे थे। सुम्पग्खनपो के अनुसार ये बंगाल के शवर और तारानाथ के अनुसार नर्त्तक जाति के थे। नागार्जुन से दीक्षा लेकर वे श्रीपर्वत पर साधना करने चले गए थे। इनकी दो महामुद्राएँ लोकी और गुनी थीं। इनके १६ ग्रन्थ तंजूर में प्राप्त हैं। इनका समय ६वीं शती माना गया है।

लुईपाः—कुछ विद्वानों के अनुसार ये बंगाली थे। किन्तु राहुलजी ने मङ्गाला से भागलपुर प्रदेश का अर्थ लिया है। वे इन्हें मगधवासी मानते हैं। कुछ लोग इन्हें कायस्थ और कुछ इन्हें मछुआ बताते हैं। ये उड़ीसा के राजा दारिकपा के गुरू थे। इनका समय ६ वीं शती माना जाता है।

"काआ तरुवर पंचवि डाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण, लुइभणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥

दारिकपाः—ये लुईपा की दूसरी शिष्य-परम्परा में थे। ये उड़ीसा के राजा थे। इनके १० ग्रंथों का उल्लेख तंजूर में है। इनका समय ६वीं शती है।

मीनपाः—मीनपा को मत्स्येन्द्र का पिता तथा गुरू बताया गया है। उनके तीन शिष्य हुए—हाली, माली तथा तम्बूली। ऐसा ज्ञात होता है कि मीनपा के समय से ही बौद्ध तथा शैव तन्त्र साधनाओं में अधिक मिश्रण प्रारम्भ हुआ। इनका झुकाव संभवतः शैवों की ओर अधिक था। इनका एक ग्रन्थ "बाह्यान्तर बोधिचित्तबन्धोपदेश" नाम का है। इनका समय १० वीं शती है।

डोम्बीपाः—ये मगध के राजा थे। इनके एक ग्रन्थ 'सहजसिद्धि' से यह ज्ञात होता है कि इन्होने कौल पद्धति का विशेष प्रचार किया था। इनका समय भी ६ वीं शती है।

जालन्धरः—कुछ विद्वान् इन्हें ब्राह्मण और कुछ विद्वान् शूद्र मानते हैं। इनका निवास-स्थान जालन्धर देश था। कच्छपा ने इन्हें बौद्ध तन्त्र में दीक्षा दी थी। राहुल जी के द्वारा उद्धृत् इनके पद में बौद्धतन्त्र पद्धति का ही वर्णन है, किन्तु शैव पद्धतियाँ भी इन्होंने अवश्य अपनाई होंगी, क्योंकि नाथ परम्परा में इन्हें आदिनाथ माना गया है। इनके सात ग्रन्थ हैं। कण्हपा, गोपीचन्द्र और भर्तृहरि इन्हीं के शिष्य थे।

काण्हपाः—'चर्याचर्य-विनिश्चय' में इनके पद सबसे अधिक हैं। राहुलजी भी इन्हें विद्या और कवित्त में सबसे बड़ा मानते हैं।

सस्क्यन्कम्बुम् में इन्हें कर्णाटकवासी ब्राह्मण कहा गया है। तारानाथ के अनुसार इनका जन्म-स्थान उड़ीसा था। ये बौद्ध होकर भी शैव के बहुत निकट थे। इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। इनका समय ९ वीं शती है।

एक न किज्जइ मंत्र ण तंत, णिअ घरणी लइ केलि करंत।
णिअ घर घरणी जाव न मज्जइ, ताब कि पंचवर्ण विह रिज्जइ॥
जिमि लोण विलज्जइ पाणि एहि, तिमि घरणी लइ चित्त।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त॥—काण्हपा।

विरूपाः—ये त्रिपुरा के निवासी थे। इनके १३ ग्रन्थ मिलते हैं। इनका समय ९ वीं शती है।

शान्तिपाः—ये मगध के ब्राह्मण थे। इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों का पर्यटन किया था तथा वेद, वेदांग और त्रिपिटक के प्रख्यात विद्वान् थे। सिंहल से लौटकर जब वे वज्रासन बोधगया आए तब राजा महीपाल ने उन्हें विक्रमशिला के पूर्वी द्वार का आचार्य नियुक्त किया। ये अपने समय के महान पण्डित और कलिकाल सर्वज्ञ माने जाते थे।

सिद्ध साहित्य

सिद्धों की रचनाएँ प्रमुखतः दो रूपों में उपलब्ध हैं, दोहा कोष तथा चर्यापद। दोहा कोष दोहों से युक्त चतुष्पदियों की कड़वक् शैली में मिलते हैं। कुछ दोहे टीकाओं में उद्धृत हैं और कुछ दोहागीतियाँ बौद्ध तन्त्रों और साधनाओं में मिली हैं। चर्यापद बौद्ध तान्त्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद हैं जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गए हैं, किन्तु एक साथ संग्रहीत कर दिए गए हैं।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने चर्यापदों की चर्चा करते हुए लिखा है—"चर्यापद वास्तविक रूप में 'साहित्य' नहीं कहे जा सकते। उनका अभिप्राय और उनका मर्म प्रमुखतः धार्मिक है, साहित्यिक नहीं। साहित्य के वास्तविक अर्थ में वे साहित्य के सौंदर्य से हीन हैं। उनका प्रमुख महत्त्व भाषात्मक और धार्मिक है। फिर भी कहीं-कहीं ऐसे पद मिल

जाते हैं जिनसे असाहित्यिक वातावरणों के बावजूद शुद्ध काव्य की छटा दीख पड़ती है।" न केवल सिद्ध वरन् उनकी परम्परा में माने जाने-वाले नाथों और संतों के साहित्य के विषय में भी विद्वानों की यह सम्मति रही है कि उनमें काव्य गौण है, धार्मिक विवेचन प्रमुख।

डा० धर्मवीर भारती ने उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए लिखा है[1]—"निस्सन्देह इस प्रकार का निर्णय लौकिक काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसकर दिया जाता रहा है। किन्तु हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि इन समस्त कवियों के सम्मुख जीवन का लौकिक पक्ष उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। वे साधक थे और साधक के लिए लौकिक जीवन बंधन था, अज्ञान था, मायाजाल था। इसीलिए उनके काव्य को लौकिक काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसकर हम उनका सही मूल्यांकन नहीं कर सकते और न उनके दृष्टिकोण को सही-सही समझ सकते हैं। उनके काव्य का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें उसी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त करना चाहिए जिससे प्रेरित होकर, जिसे आधार बनाकर यह काव्य प्रणीत किया गया है।"

सिद्धों के तथा उन्हीं के समकालीनों के वज्रयानी दोहे, पद तथा प्रहेलिकाओं में काव्य के इतने रूप मिलते हैं—चर्यापद, वज्रगीति, मुक्तक, दोहे तथा अर्द्धालियाँ। इन रूपों में प्रथम दो गीतिकाव्य और अंतिम तीन मुक्तक काव्य के अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार स्थूल रूप से हम सिद्धों के साहित्य के दो भेद मान सकते हैं—गीति तथा मुक्तक। इनमें से गीति (चर्यापद, वज्रगीति) भावप्रधान और मुक्तक (दोहे, प्रहेलिका) नीति प्रधान हैं।

भावपक्ष (सहज रस) :— सिद्धों ने परम्परा से आती हुई निर्वाण-भावना का तिरस्कार कर महासुख की अनुभूति को प्रमुखता प्रदान की है। अपने साहित्य में उन्होंने उसी महासुख की उपलब्धि की प्रणाली का वर्णन तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है।

---

१ सिद्ध साहित्य —(पृष्ठ २३७)

उन्होंने महासुख की उपलब्धि की प्रज्ञोपायात्मक योग-प्रणाली को दाम्पत्य प्रणय के रूपकों में वर्णित किया है। जहाँ तक महासुख की अनुभूति का प्रश्न है, सिद्धों ने वाणी की विवशता स्वीकार कर ली है। उन लोगों ने स्पष्ट कहा है कि वह रहस्यानुभूति ऐसी है जिसे अभिव्यक्त ही नहीं कहा जा सकता। इस रस की उद्भावना और आस्वादन इतना गुह्य है कि सारे व्यापार हृदय में ही हो जाते हैं, बाह्यभिव्यक्ति तो उन्हें छू ही नहीं पाती। इस सहजामृत रस का आस्वादन ही किया जा सकता है, गुरू भी इसे समझा नहीं सकता, न शिष्य केवल गुरू के वचन से समझ सकता है। इसके लिए तो स्वतः उसके मार्ग में प्रवृत्त होना पड़ता है।

सिद्धों ने महासुख को प्राप्त करने की पद्धति, उपलब्धि तथा उसकी अनुभूति का वर्णन स्त्री-पुरुष के प्रणय-रूपकों के सहारे किया है। उसमें चुम्बन, आलिंगन, मैथुन आदि सबका वर्णन इतना अधिक है कि उनका सांकेतिक अर्थ न समझनेवाले उनपर घोर अश्लीलता का आरोप करते हैं। ऊपर से उनके पदों का अर्थ लगता भी वैसा ही है, किन्तु उनका सांकेतिक अर्थ नितान्त भिन्न और आध्यात्मिक होता है।

नीति-पक्ष :—नीति-पक्ष का प्रधान माध्यम दोहा है, किन्तु चर्या-पदों में भी स्थान-स्थान पर साधना तथा तत्त्वदर्शन के उपदेश और विवेचन मिलते हैं जो प्रतीक प्रधान हैं। हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीतिकाल में जो नीति-परक मुक्तकों की परम्परा मिलती है उनमें लौकिकता अधिक है, किन्तु सिद्धों की मुख्य चिन्ता यह थी कि कैसे व्यक्ति इस सांसारिक मोह-जाल को तोड़कर सहज प्रज्ञोपयात्मक पथ पर चले और नैरात्म ज्ञान उपलब्ध करे। अतः उनका नीति-परक उपदेश साधक को धर्म-साधना में ही प्रवृत्त करने के लिए था। धर्म प्रमुख था, लौकिक व्यवहार गौण। नीति धर्मसाधना की सहायिका के रूप में थी।

काव्य-पक्ष की दृष्टि से नीति-परक दोहों और पदों में विवेचना के अंश जहाँ अप्रस्तुतों और प्रतीकों से रहित है, वहाँ उनकी गति बहुत

शिथिल और नीरस है। किन्तु जहाँ प्रतीक-योजना है, वहाँ शैली चमत्कारिक है।

सिद्धों की भाषा

सन्धा-भाषा या संध्याभाषा :— म० हरप्रसाद शास्त्री ने जिस प्रति से चर्यापदों की प्रतिलिपि कराई थी, उसमें लिपिकार ने 'सन्धा' के स्थान पर 'सन्ध्या' भाषा लिखा था जिसका अर्थ उन्होंने 'आलो-आन्धारी-भाषा' किया था। आलो-आन्धारी-भाषा' से उनका तात्पर्य था कि जिसका बाह्य अर्थ कुछ और हो तथा आन्तरिक अर्थ कुछ और। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने भी 'सन्ध्या भाषा' स्वीकार किया था; किन्तु डा० विधुशेखर शास्त्री ने प्रमाणित किया है कि वह 'सन्ध्या-भाषा' नहीं, 'सन्धा भाषा' है। उनके अनुसार 'सन्धा-भाषा' का अर्थ है अभिसन्धि अथवा अभिप्राययुक्त भाषा। अतः यह अभिप्रायिका-शैली या नेयार्थ-वचन है जिसका लक्ष्य है बाह्य अर्थों के बजाय किसी दूसरे निहित अभिप्राय की अभिव्यक्ति करना। डा० बागची ने भी 'सन्धा-भाषा' ही शुद्ध रूप माना है।

शुक्लजी ने सिद्धों की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—"सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा निश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपुताना और ब्रज-मंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी मिले हुए हैं।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"७वीं, ८वीं शताब्दी के तान्त्रिक साहित्य में इस प्रकार की विचित्र भाषा का प्रचलन हो गया था। तंत्रों के साहित्य में ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनका ऊपरी अर्थ चिढ़ानेवाला और लोक-मर्यादा विरोधी है, परंतु पारिभाषिक अर्थों के

समझने के बाद जो अर्थ स्पष्ट होता है, वह उतना चिढ़ानेवाला और धक्कामार नहीं होता।"

इस भाषा की प्रकृति मंत्र-प्रकृति थी। मंत्र-सिद्धान्त में प्रत्येक शब्द और अक्षर का एक गुह्य, दिव्य या परम अर्थ होता है। शब्दों की उसी द्वयार्थक प्रकृति का परिचय सन्धा-भाषा में भी मिलता है।

नाथ सम्प्रदाय

जिस प्रकार सिद्धों की संख्या ८४ मानी गयी है उसी प्रकार नाथों की संख्या ९ मानी गयी है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जो नाथों की शिष्य परम्परा का चित्र दिया है, वह इस प्रकार है—

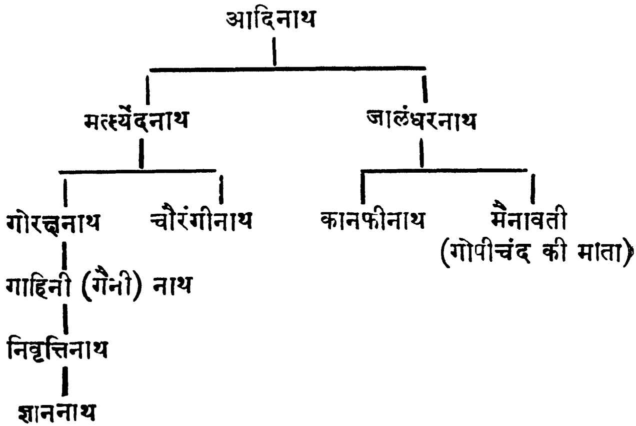

स्पष्ट है कि नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोरखनाथ नहीं थे। वे उसके अत्यन्त सबल प्रचारक आचार्य तथा संगठनकर्त्ता थे। यह नाथ-परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और किसी-न-किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार गोरखनाथ ने योग-मार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर काया योग के साधनों को विस्तृत किया।

नाथ-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विद्वानों के मत दो प्रकार के हैं। कुछ लोग गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव-शाखा मानते हैं और कुछ लोग स्वतः बौद्ध-सिद्धों को प्रच्छन्न नाथपंथी। इन दोनों ही मतों में अनुमान की प्रबलता अधिक है, वैज्ञानिक तर्कों का आश्रय कम। इसलिये दोनों मतों में से किसी को पूर्णतया ग्रहण नहीं किया जा सकता। सत्य यह है कि बहुत दिनों तक शैव तथा बौद्धतन्त्र और योग-साधनाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं और कामरूप आदि कई केन्द्र ऐसे भी थे जहाँ दोनों के ही यन्त्रपीठ होने के कारण दोनों पद्धतियों में पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ।

शुक्लजी ने लिखा है—"गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ भी गिन लिये गये हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिन्दू शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिवशक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी-किसी ग्रंथ में मिलती है। गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्त्तन किया।"

गोरखनाथ

गोरखनाथ के सम्बन्ध में बहुत किम्वदंतियाँ हैं। बौद्ध किम्वदन्तियों में गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये हैं जो बाद में शैव हो गये। तारानाथ उनका वज्रयानी नाम अनंगवज्र बताते हैं और म० हरप्रसाद-शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। सिल्वियाँ लेवी ने नेपाल की एक दंतकथा के आधार पर लिखा है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे, बाद में यवनों के भय से बौद्ध धर्म छोड़कर ईश्वरवादी (शैव) हो गये। किंतु ये सभी किम्वदन्तियाँ अप्रामाणिक हैं।

गोरखनाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ थे। गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। शुक्लजी ने लिखा है—"गोरख-

नाथ के समय का ठीक पता नहीं। राहुल सांकृत्यायनजी ने वज्रयानी सिद्धों की परम्परा के बीच उनका जो स्थान रक्खा है, उसके अनुसार उनका समय विक्रम की १० वीं शताब्दी आता है।" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तन्त्रालोक में मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना की है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ दसवीं शताब्दी के पूर्व अवतरित हुए थे। तिब्बती परम्परा के साथ इस तथ्य को मिलाकर देखें तो यह समय नवीं शताब्दी के आरंभ में पड़ता है। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिये उनका समय भी इसी के आसपास होगा।"

साहित्यः—हिन्दी में गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत-सी रचनाएँ संस्कृत हैं। डा० बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करके इनमें से १४ को प्रामाणिक समझा है। 'सबदी' गोरक्षनाथ की सबसे प्रामाणिक रचना है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाली पुस्तकों में 'संवाद' की पद्धति है। द्विवेदीजी के अनुसार "दो साधकों के प्रश्नोत्तर के रूप में सिद्धान्त प्रतिपादन की जिस शैली का प्राधान्य इस ग्रंथ में है, वह शैली पहले अपरिचित ही थी।" 'गोरख-बोध' ऐसा ही संवाद-ग्रन्थ है।

गोरख के नाम पर प्रचलित बहुत से पद कबीर, दादू तथा नानक के नाम से भी पाये जाते हैं। अतः वे सभी पद गोरख के ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शुक्लजी ने लिखा है—"गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी। अतः उसमें मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी।" नाथ-साहित्य में गुरू का होना परमावश्यक माना गया है और चित्त की शुद्धता पर जोर दिया गया है। मानसिक दृढ़ता रहने से योगी को विघ्न विचलित नहीं कर सकता।

काम, क्रोध तथा चित्त की शिथिलता से दूर रहने का आदेश दिया गया है। ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, मद्य और मांस का पूर्ण बहिष्कार आदि बातों पर जोर दिया गया है।

अंतस्साधना का वर्णन :—

हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम् ॥

सहज जीवन—

हँसिबा षेलिबा रहिबा रंग।
काम क्रोध ना करिबा संग॥
हँसिबा षेलिबा गायिबा गीत।
दिढ़ करि राखिबा आपना चीत॥
हँसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान।
अहि विधि कथिबा ब्रह्म गियान॥
हँसे षेले ना करे मन भंग।
ते निहचल सदा नाथ के संग॥

और—

सहज शील का धरे सरीर, सो गिरही गंगा का नीर।

इस साहित्य की दुर्बलता है, इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक विद्विष्ट और चयिष्णु बना दिया। फिर भी इस पंथ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी-साहित्य का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

नाथपंथ का प्रभाव केवल उत्तर-पूर्वीय भारत नहीं था। वह समस्त देश में विस्तृत था। प्रत्येक प्रान्त में वह नये सम्प्रदायों के सम्पर्क में आया था जिसकी कितनी ही प्रवृत्तियाँ उसमें समाविष्ट होती गयीं।

अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) साहित्य की परम्परा और उसका परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव :—

आज इस मत से किसी का विरोध नहीं कि हिन्दी के विशाल साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए तथा उसकी विभिन्न परम्पराओं के समुचित ज्ञान के लिए अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) साहित्य का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) साहित्य से मेरा तात्पर्य वज्रयानो सिद्ध, जैन कवि, नाथयोगी तथा कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवियों के साहित्य से है। इस साहित्य ने परवर्ती साहित्य के किसी एक ही पक्ष को नहीं, बल्कि भाव, भाषा, शैली, छन्द, प्रतीक, कवि प्रसिद्धि, काव्य रूप, कथानक रूढ़ि, काव्य-कौशल सबको प्रभावित किया है। मानो यह हिन्दी-साहित्य के अभ्र-ध्वज-सौध की नींव है। यही कारण है कि स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं० राहुल सांकृत्यायन के साथ मैं भो इस मत का समर्थक हूँ कि इसे हिन्दी से भिन्न अपभ्रंश का साहित्य न कहकर 'पुरानी हिन्दी' का ही साहित्य कहना अधिक उचित होगा।

शुक्लजी ने परवर्त्ती साहित्य पर अपभ्रंश रचनाओं के सैद्धान्तिक पक्ष तथा भाषा के प्रभाव को तो स्वीकार किया था, किन्तु इसे 'शुद्ध साहित्य' की कोटि में रखने में तथा हिन्दी का साहित्य मानने में अपनी अनिच्छा प्रकट की थी। उन्होंने लिखा है—"येही दो बातें (सैद्धांतिक पक्ष और भाषा का प्रभाव) दिखाने के लिए इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, शुक्लजी से एक कदम आगे बढ़कर अपभ्रंश की रचनाओं को साहित्य ता मानते हैं तथा परवर्त्ती साहित्य पर उसके सर्वांगीण प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे 'हिन्दी

मानने से बिल्कुल इन्कार करते हैं। उनके अनुसार—"अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता। परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।"

आज से बहुत पूर्व पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कहा था "यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं हैं।" मेरे विचार से गुलेरीजी का कथन नितान्त सत्य है। इधर पं० राहुल सांकृत्यायन, डा० धर्मवीर भारती, प्रो० हरिवंश कोछड़ आदि कतिपय विद्वान गुलेरीजी के मत की पुष्टि में अपना योगदान दे रहे हैं और मेरा विश्वास है कि कुछ ही दिनों के बाद अपभ्रंश साहित्य को पुरानी हिन्दी का साहित्य मानने में किसी को आपत्ति नहीं रह जायगी।

परवर्त्ती साहित्य पर अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव के निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं :—

वज्रयानी शब्दों की परम्परा

शून्य :—सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय योग-प्रणाली में 'शून्य' को नैरात्माबालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप में ग्रहण किया, साथ ही महासुख चक्र में इस शून्यता की स्थिति मानी। यह शब्द प्रायः सभी सम्प्रदायों में ग्रहण हुआ है। सिद्धों के 'शून्य' और परवर्त्ती सम्प्रदायों के शून्य में अन्तर यह है : अन्य सम्प्रदायों में यह शब्द परम तत्त्व के अन्य नामों की भाँति एक नाममात्र था जिसकी व्याख्या प्रत्येक सम्प्रदाय के चिन्तक अपने-अपने ढंग से करते थे। नाथ-सम्प्रदाय में इसका सम्बन्ध शब्द या नाद से जोड़ दिया गया है। 'हठयोग प्रदीपिका' में शून्य तथा पूर्ण एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्य कुम्भ इवाम्बरे
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्ण वे।

इसी से मिलती-जुलती 'कबीर' और 'जायसी' की पंक्तियाँ भी हैं :—

कबीर—फूटा कुम्भ जल जलहि समाना
यहु तथ कथौ गियानी।

जायसी—सुन्न समुंद चख माँहि जल जैसी लहरैं उठैं
उठि-उठि मिटि-मिटि जाहिं मुहम्मद खोज न पाइए।

नाथ-साहित्य में 'शून्य' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है :—

१. परम तत्त्व नाद, परम ज्ञान, परम स्वभाव।

२. ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार चक्र, गगन-मण्डल।

३. शिवलोक।

परवर्ती संत तथा सूफी सम्प्रदायों में भी इन्हीं तीनों प्रसंगों में 'शून्य' का प्रयोग हुआ है :—

१. परम तत्त्व या परम ज्ञान के रूप में।

२. ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार चक्र के रूप में।

३. परम लोक के रूप में।

परम तत्त्व के अर्थ में :—

नानक—सुन्न शब्द ते उठै झंकार
सुन्न शब्द ते ओ अंकार।
सुन्न शब्द ते पवन विचार
सुन्न शब्द ते अग्नि चार। आदि—

परमज्ञान के अर्थ में :—

रैदास—पहले ज्ञान का किया चाँदना पाछे दिया बुझाइ
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे राम न कहुँ सुखदाइ।

वज्र :—सिद्धों की साधना में 'शून्य' का पूरक तत्व 'वज्र' था जो पुरुष रूप में बोधचित्त में जाग्रत होकर नैरात्मज्ञान में लीन होने के लिए अग्रसर होता था। आगे चलकर वज्र के साथ मुद्रा-मैथुन साधनाओं का विशेष सम्बन्ध हो गया। इसलिए नाथ-सम्प्रदाय में इस शब्द की अवहेलना की गयी; किन्तु एक विचित्र ढंग से यह शब्द परवर्ती

साधनाओं में बचा रह गया। वज्रयानी योग की शब्दावली में ब्रह्मरन्ध्र को दशम द्वार या वैरोचन द्वार कहते थे। उस द्वार में जो कपाट लगे हुए हैं, वे वज्र कपाट हैं।

कबीर—धरे ध्यान गगन के माहि लाये वज्र किवार
देख प्रतीमा आपनी तीनिउँ भये निहाल।

नानक—अउघट घाट विषम है बाट। गुरुमुख खोले वज्र-कपाट।

जायसी—पंवरी नवौं वज्र कै साजी, सहस-सहस तँह बैठे पाजी
नवौ खण्ड नव पवरी औ तँह वज्र-केवार।

खसम :—संतों के साहित्य में जो शब्द सिद्ध-साहित्य से आये हैं, उनमें अर्थ विकास की दृष्टि सम्भवतः 'खसम' शब्द सबसे अधिक रोचक है। सिद्धों के यहाँ 'खसम' का अर्थ था मन का स्वतः शून्य रूप होकर शून्य में या 'ख' में मिल जाना। भगवती प्रज्ञा के स्वरूप को भी वहाँ 'खसम' कहा गया है।

सरहपा—सब्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ,
खसम सहावें मणवि धरिज्जइ।

सन्त-साहित्य में 'खसम' का प्रयोग 'शून्यावस्था' के साथ-साथ 'पति' के अर्थ में भी हुआ है—

कबीर— खसम बिनु तेली के बैल भयो।

किन्तु वास्तव मे सन्त इसे पति रूपी परम ज्ञान या परम तत्व के अर्थ में प्रयोग करते थे और उसके सांकेतिक अर्थ से पूर्णतया परिचित थे :—

पलटू साहब—खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।

कबीर—बिनु गुरु ज्ञाने दुंदुभी खसम कही मिलि बात
जुग-जुग कहवैया कहै, काहु न मानी बात।

इसी प्रकार 'सहज', सुरति, निरति आदि अनेक शब्दों की परम्परा है।[1]

---

१. देखिये 'सिद्ध-साहित्य'। —डा० धर्मवीर भारती

भाव पक्ष :—बौद्ध सिद्धों ने महाराग की प्रतिष्ठा की थी और भगवती प्रज्ञा के प्रति महाराग को अपने काव्य की मुख्य भावभूमि बनाया था। नाथ-परम्परा में शक्ति को देहस्थ मानकर क्रम उलट दिया गया और साधना की सक्रियता शक्ति में मान ली गयी। शिव उसकी निष्क्रिय, निष्काम परिणति मात्र थे। अतः साधक का अपने को उपाय रूप परिकम्पित कर भगवती प्रज्ञा के प्रति प्रणय-निवेदन करनेवाली भाव-पद्धति पूर्णतया त्याग दी गयी। किन्तु दूसरी ओर नाथ-परम्परा के गृहस्थ यागियों में यागिनियों के प्रेम-गीतों का विकास होता ही रहा। उसकी प्रतिछाया मीरा के गीतों पर भी मिलती है—

मीरा—जोगी, मत जा, मत जा, मत जा।

सन्तों में हमें पुनः सहयाग के अतिरिक्त भावपक्ष की प्रबलता मिलती है; किन्तु इनकी भावसाधना का इष्ट न प्रज्ञा है, न शिव—वह है निरंजन अथवा राम। इस दृष्टि से सिद्धों में तथा सन्तों में प्रमुख अन्तर यही है कि वज्रयानी साधक अपने को प्रेमी नायक परिकल्पित कर नारी प्रज्ञा से प्रणय निवेदन करता था जब कि सन्त साधक अपने को नारी परिकल्पित कर राम को पति के रूप में स्वीकार करते हैं। पातिव्रत्य पर जो आग्रह सन्तों ने किया है, वह आश्चर्यजनक रूप से सरहपा के स्वकीयत्व तथा पातिव्रत्य विधान से मिलता है।

शैली :—भावभूमि में नाथों तथा सन्तों का साहित्य वज्रयानी परम्परा से बहुत हट गया था, किन्तु जहाँ तक शैली का प्रश्न है यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से रही। यहाँ तक कि वे ही रूपक, वैसे ही प्रतीक, वे ही छन्द और वही सन्धा शैली सिद्धों, नाथों और सन्तों के साहित्य में मिलती है। यहाँ तक कि शैली की द्व्यार्थक प्रवृत्ति और निहित अभिप्राय के लिए सन्धि शब्द का प्रयोग भी सन्त लोग भूले नहीं थे।

साधना-पद्धति के कुछ उपमान जिनका वज्रयानी नाथ तथा सन्त-साहित्य में समान अर्थ उपयोग हुआ है—

अन्धा व्यक्ति (अज्ञानी गुरु या श्रद्धाहीन शिष्य), कामरूप (देहस्थ पीठ), गंगा (शक्ति या इड़ा), यमुना (पिंगला), संगम (सुषुम्णा), मेरु पर्वत (मेरु दंड), कमल (देहस्थ चक्र), बद्ध तुरंग (स्थिर मन अथवा पवन), कुंजी ताला (श्वास निरोध), वज्र कपाट (दशम द्वार में श्वास निरोध), चोर (वासनात्मक मन), चन्द्र (प्रज्ञा, शिव) सूर्य (शक्ति या उपाय), योगिनी (महामुद्रा, सुरति), सास (माया), ननद (वासना), साली (सृष्टिजाल) ।

कुछ प्रमुख उपमान

तरुवर—(काया, चित्त , सृष्टि विस्तार, सहज तत्व)

काया—काया तरुवर पंचवि डाल (चर्यापद १)

तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरिआ ।

—कबीर

गाय—(इन्द्रियाँ)

'गविया बाँके ।' (चर्यापद ३१)

'एक गाइ नौ बछड़ा पंच दुहेवा जाइ ।' (गोरखवानी, पृ० ११९)

'कालिह जुतेरी बंसरिया छीनी कहा चरावै गाइ ।' (क०ग्र०, पृ. १४७)

'प्रभु जी नेकु हटकौ गाइ ।' (सूरदास)

नगरी—(काया)

'देह नअरी विहाइ एकाकारे ।' (चर्यापद ११)

'कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ।' (सन्तवानी, पृ० ४)

मेघ—(करुणा, गुण)

'करुणा नेह निरन्तर फरिया ।' (चर्यापद ३०)

'कबीर गुण की बादली तीतर वानी छाँह ।' (क० ग्र० पृ० ३४)

'उत्तर देस में मेह धड़कया दक्षिण आचल छाया ।' (गो० वा०)

इस तरह के असंख्य ऐसे उपमान हैं जो अपभ्रंश साहित्य से हिन्दी में उसी रूप में आ गये हैं ।

रूपक-योजना :—सिद्ध साहित्य की सन्धा शैली में अप्रस्तुतों तथा

प्रतीकों की द्विविध योजना प्रचलित थी, औपम्यमूलक तथा विरोध मूलक। यही सन्तों के साहित्य में रूपक तथा उलटवाँसी के नाम से प्रख्यात हुई। सन्तों के अधिकांश रूपक ऐसे हैं जो सिद्ध परम्परा से चलते आ रहे हैं; जैसे—कलाली का रूपक, जुलाहे का रूपक, विवाह का रूपक आदि।

कलाली—(सहज शक्ति, आत्मा, काया।)

भट्ठी—ब्रह्मरन्ध्र, चौदह भुवन।

ग्राहक—सन्त।

विवाह—(आत्मा-परमात्मा का मिलन)

बाराती—पाँच तत्व, वर—राम (परमात्मा), वधू—आत्मा, गायिकाएँ—इन्द्रियाँ, पुरोहित—चक्रस्थ ब्रह्म, पीहर—संसार, ससुराल—ब्रह्मलोक, डोली—शरीर, विदा—मृत्यु।

जुलाहा—(परमात्मा)

सूत्र—मनोवृत्तियाँ, चादर—तन, करघे का शब्द—अनाहत नाद, चरखा—चक्र, ताना-भरनी—नाड़ियाँ।

इस प्रकार के अनेक रूपक सिद्ध साहित्य से परवर्ती साहित्य में आये हैं।

भाषा[1] :—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली की संज्ञाओं, सर्वनामों, विशेषणों और क्रियापदों के विकास में अपभ्रंश का प्रभाव कितना है, इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

ब्रजभाषा उकार बहुला है। इसमें विशेष्य के साथ विशेपण भी उकारान्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश में भी विशेषण और संज्ञा का लिंग-साम्य रहता है—

'ग्वापै एकु घरु है।' (उसके पास एक घर है।)

'रावणु दसमुहु बीस हत्थु।' पउम चरिउ, १।१०

---

१ अपभ्रंश का जन्म और उसका हिन्दी पर प्रभाव—डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन' (सम्मेलन पत्रिका—भाग ४४ सं० १)

जिस प्रकार अपभ्रंश में 'कवण' को 'कवणु' करके लिखा जाता है, उसी प्रकार ब्रजबोली में 'कौन' को 'कौनु' करके बोला जाता है।

संस्कृत का तस्य, प्राकृत में तस्स और अपभ्रंश में 'तासु' बन जाता है, जिसका अर्थ है 'उसका'। अवधी में भी यह 'तासु' उसी रूप और अर्थ में व्यवहृत होता है।

अपभ्रंश काल में तिङन्त पदों में प्रत्ययांशों के 'म' के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा था; जैसे—सं० धरामि अप. धरउँ। अपभ्रंश में सुवन्त का 'न' या 'ण' भी अनुसार में परिवर्तित होता है; जैसे—देवेन अप. देवें। सं. हृदये न अपभ्रंश—हियें या हियैं। बिहारी ने भी 'हृदय से' के अर्थ में 'हियैं' का प्रयोग किया है।

"रँगराती रातैं हियैं प्रियतम लिखी बनाइ।"

—बिहारी

संस्कृत भद्र अपभ्रंश में भल्ल या भल्ला होता है और वही खड़ी बोली में 'भला' बन गया है।

इस प्रकार की असंख्य समानताएँ दिखायी जा सकती हैं। अपभ्रंश से कितने ही तद्भव शब्दों की थाती हिन्दी को मिली थी जिनका प्रयोग सन्त और सूफी कवि करते थे; किन्तु वैष्णव प्रभाव बढ़ने के साथ-साथ संस्कृत का प्रभाव बढ़ा और भक्तिमार्ग-सम्बन्धी कितने ही तत्सम शब्द हिन्दी के धार्मिक काव्य में प्रचलित हो गये जिन्होंने भाषा का रूप ही बदल दिया। किन्तु फिर भी सिद्धों द्वारा पदों में स्थानीय बोली तथा दोहों में पूर्वी प्रभाव मिश्रित पश्चिमी बोली प्रयुक्त करने की परम्परा १८ वीं शती के सन्तों तक चली आई है।

आचार्य शुक्ल ने बहुत पहले ही इस ओर संकेत किया था। उन्होंने लिखा है—"सिद्ध कण्हपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो यह बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी है, पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद आगे चलकर कबीर की 'साखी' और रमैनी

की भाषा में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य सधुक्कड़ी भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की व्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली भी है।

छंद :—सन्तों और नाथों की साखियों और पदों के छन्द अधिकतर उन्हीं छंदों के विकसित रूप हैं जो सिद्धों ने प्रयुक्त किये हैं। द्विवेदीजी ने अपभ्रंश के मुख्य तीन बंध माने हैं —(१) दोहा-बंध (२) पद्धड़िया बंध (३) गेयपद बंध।

जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छंद है उसी प्रकार दोहा (दूहा) अपभ्रंश का अपना छंद है। यह अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में एकदम अपरिचित है, किन्तु परवर्ती हिन्दी-साहित्य में यह छंद अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है। इसका प्रयोग धार्मिक उपदेश मूलक दोहे, शृंगारी दोहे, नीति विषयक दोहे तथा वीर रस के दोहे के रूप में हुआ है।

पद्धड़िया बंध चरित काव्य लिखने में प्रयुक्त होता रहा है। पद्धरी १६ मात्रा का मात्रिक छंद है। इसी के नाम पर पद्धड़िया बंध चला। इसमें प्रायः आठ पंक्तियों के बाद घत्ता दिया रहता है। इसे 'कडवक' कहते हैं। इसका प्रयोग स्वयंभू, धनपाल, पुष्पदंत आदि जैन कवियों के काव्य में हुआ है। स्वयंभू ने चतुर्मुख को पद्धड़िया बंध का श्रेष्ठ कवि कहा है। अलिल्लह तथा दोहे चौपाई की पद्धति इसी का भिन्न रूप है जिसका प्रयोग भक्तिकाल के अनेक कवियों ने किया।

गेय पद बंध :—अपभ्रंश में गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था। गेयपदों के छंद को ही गेयपद बंध कहा गया है। इसकी परम्परा आजतक वर्तमान है।

छंद की इस समानता की चर्चा के प्रसंग में डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब

देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य रूपों को छोड़ भी दिया जाय तो इस साहित्य की प्राणधारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है। प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्य का ही मूलरूप समझा तो ठीक ही किया है।" (किन्तु आगे चलकर द्विवेदी जी इस बात पर स्थिर नहीं रह सके हैं।)

भाषा-भाव-छंद का समवेत हरण

सरहपा—जाहि मण पवण संचरइ रवि ससि नाह पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ उएस॥

कबीर—जिहि वन सीह न संचरे, पंषि उड़ै नहिं जाइ।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ॥

दादू—चल दादू तहँ जाइए, जहँ चन्द सूर नहिं जाइ।
राति दिवस का गम नहीं, सहजै रह्या समाइ॥

२—वाह विछोड़वि जाहि तुहँ, हउँ तेवइँ का दोसु।
हिय चढ्ढिय जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु॥

—हेमचन्द्र (प्राकृत व्याकरण)

(मृणालवती मुंज से कहती है कि हे मुंज! तू बाँह छुड़ाकर जाता है, मैं भी वैसे ही जाती हूँ। क्या हर्ज है! यदि हृदय से निकल जाओ तो जानू कि मुंज रूठ गया है।)

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, मर्द वदोंगो तोहि॥

—सूरदास

३—जे काय वायमणे निछिरिया, जे काम कोह दुन्नय तिरिया।
ते एछ मणेण सयं भुएण, वेदिय गुरु पर मायरिआ॥

—स्वयंभू

बन्दउ गुरुपद-कंज, कृपा-सिंधु नररूप हरि।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकर निकर ॥
—तुलसीदास

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-साहित्य का अधिकांश उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) साहित्य की देन है।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र अपने समय के बहुत महान आचार्य थे। इनके जन्म-मरण के काल का निश्चित पता नहीं है। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् ११५०–११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल (११९९–१२३०) के यहाँ इनका बड़ा मान था। वे अपने समय के 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहे जाते थे। उन्होंने एक 'सिद्ध हेमचन्द्र-शब्दानुशासन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश है। इसमें अपभ्रंश की चर्चा बहुत विस्तार पूर्वक है। अन्य प्राकृतों में व्याकरण के प्रयोगों का उदाहरण देते समय तो उन्होंने एक शब्द या एक वाक्यांश को पर्याप्त समझा है, पर अपभ्रंश के पदों का उदाहरण देते समय उन्होंने पूरे-पूरे दोहे उद्धृत किए हैं। इससे इस भाषा के प्रति आचार्य की ममता सूचित होती है। इस प्रकार बहुत-सी अमूल्य साहित्यिक रचनाएँ लुप्त होने से बच गयी हैं। इनमें कई कवियों की रचनाएँ हैं। सम्भव है इस ग्रंथ में बहुत-सी रचनाएँ हेमचन्द्र की भी हों। उदाहरणस्वरूप कुछ दोहे यहाँ उद्धृत हैं—

पिय संगमि कउ निद्दड़ी ? पिय हो परक्खहो केंव।
मईं विन्निवि विन्नासिया, निद्दन एँव न तेंव ॥

(प्रिय के संगम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी भला नींद कैसे आए ? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई—न यों नींद न त्यों।)

भल्ला हुआ जु मारिया वहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयं सिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥

(हे बहिन ! भला हुआ कि हमारा कंत मारा गया। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

पुष्पदंत

शिवसिंह सेंगर के अनुसार पुष्पदंत अपभ्रंश भाषा के प्रथम कवि थे। उन्होंने लिखा है "संवत् ७७० विक्रमादित्य में राजा 'मान' अवंतीपुरी का बड़ा पंडित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्प भाट ने प्रथम संस्कृत ग्रंथ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाए। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।" अनुमान है कि यह पुष्प ही कवि पुष्पदंत थे। ये मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सभा-कवि थे। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इन्हें ८ वीं शताब्दी का कवि नहीं मानकर १० वीं शताब्दी का कवि मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"ये दसवीं शताब्दी के मान्यखेट के प्रतापी राजा कर्ण के महामात्य भीत के सभा-कवि थे। बहुत ही मनस्वी व्यक्ति थे। अपने को 'अभिमान-मेरु' कहा करते थे। इनको ही हिंदी की भूली हुई अनुश्रुतियों में राजा मान का पुष्प कवि कहा गया है। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। १. तिसट्ठि महा पुरिसगुणालंकारु २. णाय कुमार चरिउ ३. जसहर चरिउ। अपने तिसट्ठि महापुरिसगुणालंकारु में इन्होंने बड़े गर्व के साथ घोषणा की है, जो इस ग्रंथ में है, वह और कहीं मिल ही नहीं सकता—किं चान्यध्यदि हास्ति जैन चरिते नान्यत्र तद् विद्यते।"

स्वयंभू

स्वयंभू अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में हैं जिनकी रचना उपलब्ध है। इनका समय ८ वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। ये अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी चार महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पता लगा है—पउम चरिउ (रामायण), रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमी चरिउ और स्वयंभूच्छंद। पउम चरिउ (रामायण) इनकी सर्वोत्तम रचना है। परन्तु साहित्य के इतिहास के जिज्ञासु के लिए 'स्वयंभूच्छंद' का महत्त्व भी कम नहीं है। पंडित राहुल सांकृत्यायन ने

स्वयंभू की रामायण के कुछ कवित्त्वपूर्ण अंश को 'हिन्दी काव्यधारा' नामक पुस्तक में प्रकाशित कराया है। उनके अनुसार स्वयंभू हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। तुलसी के 'मानस' की पूर्व-परम्परा के जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जोइंदु (योगींदु या योगीन्द्र)

जोइंदु को ८ वीं ९ वीं शती का कवि माना गया है। जैनी कवियों में इन्हें मरमी कवि कहकर पुकारा गया है। इनके दो ग्रन्थ—'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' उपलब्ध हुए हैं। ये ग्रंथ दोहों में हैं। "इन दोहों का स्वर नाथयोगियों के स्वर से इतना अधिक मिलता है, कि इनमें से अधिकांश पर से यदि जैन विशेषण हटा दिया जाय, तो यह समझना कठिन हो जायगा कि ये निर्गुण मार्गियों के दोहे नहीं हैं। भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से ये दोहे निर्गुणिया साधकों श्रेणी में ही आते हैं।"[1]

---

१. हिन्दी-साहित्य (पृ० २२)

प्रकरण—३

वीरगाथा-काल

तत्कालीन स्थिति

शुक्लजी ने संवत् १०५० से संवत् १३७५ तक के समय को 'वीरगाथा-काल' कहा है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका समय १००० ई० से १४०० ई० तक माना है। इसी प्रकार अन्य इतिहास-लेखकों ने कुछ घटा-बढ़ाकर इसका समय-निर्धारण किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस काल का नाम 'चारण काल' रखा है।

इस युग की स्थिति का परिचय देते हुए शुक्लजी ने लिखा है—"भारत के इतिहास में यह वह समय था जबकि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम प्रान्त के निवासियों को सहने पड़ते थे, जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त-साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्ष-वर्द्धन (मृत्यु संवत् ७०४) के उपरान्त भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केन्द्र हो रहा था। × × × हर्षवर्द्धन के उपरान्त ही साम्राज्य-भावना देश से अन्तर्हित हो गयी थी और खण्ड-खण्ड होकर गहरवार, चौहान, चन्देल और परिहार आदि राजपूत राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे। वे अपने प्रभाव-वृद्धि के लिए परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकतावश नहीं होती थी, कभी-कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए योंही मोल ली जाती थी। बीच-बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिन्दी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था।"

इस युग में प्रायः प्रत्येक राजा के दरबार में एक या एक से अधिक कवियों का होना दरबार की शोभा का अनिवार्य अंग माना जाता था। इन राज-कवियों को इतिहासकारों ने चारण या भाट कह-कर पुकारा है। इनका कार्य था राजा के प्रेम और युद्ध की प्रशस्ति गाना। कभी-कभी यह प्रेम तथा युद्ध काल्पनिक भी हुआ करते थे। अपने आश्रयदाताओं को खुश रखने के लिए ये चारण कवि प्रायः तिल का ताड़ किया करते थे। किन्तु इन कवियों में कुछ सुकवि भी थे और उनके आश्रयदाता राजा भी प्रशंसा के पात्र थे। इन कवियों का कार्य केवल दरबार में ही कविता-पाठ करना नहीं था, बल्कि युद्ध के समय ये सेना के साथ युद्ध-भूमि में भी जाते थे तथा वहाँ अपनी ओज-भरी कविताओं का पाठकर सैनिकों के हृदय में ओज और उत्साह का संचार करते थे।

भारत का स्वर्ण-युग बीत चुका था। सम्पूर्ण राष्ट्र छिन्न-भिन्न होकर आपसी गृह-युद्ध में तल्लीन हो रहा था। उस समय के राजाओं के दरबार में शास्त्रार्थ का महत्त्व नहीं था और न पाण्डित्य की ही पूछ थी। उस समय जो कवि राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन करता और रणक्षेत्र में जा कर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगे भरा करता था, वही सम्मान पाता था। राजा की वीरता का मापदण्ड था कि किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना।

रचनाओं के रूप और श्रेणियाँ

'वीरगाथा-काल' की उपलब्ध रचनाओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है (१) वे रचनाएँ जो अधिकांश में जैन प्रभावापन्न हैं, तथा जैन भांडारों से प्राप्त हुए हैं। ये परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। (२) लोक परम्परा में बहती हुई आनेवाली और मूल रूप से भिन्न बनी हुई लोक-भाषा की रचनाएँ। प्रथम श्रेणी में मेरुतुंग के

पबंधचिन्तामणि, अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक' तथा लक्ष्मीधर के 'प्राकृत पैंगलम' में उद्धृत रचनाएँ, जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध मानी गयी है। दूसरी श्रेणी की रचनाओं में 'पृथ्वीराज रासो', 'वीसल-देव रासो' आदि 'रासो' ग्रंथ आते हैं, जिनका उपलब्ध रूप मूल रूप से परिवर्तित हो गया है। इन ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी जाती है।

इस युग का उपलब्ध साहित्य मध्यदेश के सीमान्त के प्रदेशों में संगृहीत या लिखित रचनाएँ हैं। आगे चलकर जिस प्रदेश में (व्रज, अवध आदि) भक्तियुग के विशाल साहित्य की सृष्टि हुई, उस प्रदेश की १४वीं शताब्दी से पहले की कोई भी प्रामाणिक साहित्यिक रचना नहीं मिलती। इसका प्रधान कारण यही है कि उस युग में मध्यदेश सर्वाधिक विक्षुब्ध था।

इस युग के वीरगाथात्मक साहित्य में श्रृंगार और वीर दोनों का मिश्रण है, किन्तु प्रधानता वीर रस की ही है। ये वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीर गीतों (Ballads) के रूप में। ये ग्रन्थ 'रासो' कहलाते हैं।

प्राचीन साहित्य का संरक्षण

प्राचीन साहित्य तीन प्रकार से रक्षित हुआ है—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर (२) सुसंगठित धर्मसम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि की शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। इन्हीं तीन माध्यमों से प्राचीन साहित्य की रक्षा होती रही है। किन्तु फिर भी प्राचीन युग के साहित्य का अधिकांश नष्ट भी हो गया है। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्मसम्प्रदाय-संरक्षण उसके बाद आता है। जनता के प्रेम और प्रोत्साहन से जो पुस्तकें बची हैं, वे परिवर्तित होती रही हैं, क्योंकि जनता को उसके रूप की शुद्धता से

कोई प्रयोजन न था। वे पुस्तकें आवश्यकतानुसार कटती-छँटती, परिवर्तित और परिवर्द्धित होती आई हैं। 'आल्हा' काव्य इसी प्रकार के ग्रंथों में है। आज उसके मूल रूप को बता सकना असंभव व्यापार है।

वीरगाथा-काल के प्रमुख काव्य-ग्रंथ और कवि

शुक्लजी ने वीरगाथा-काल में अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की केवल बारह पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में विवेचना के योग्य समझा था। उनके नाम हैं:—(१) विजय पाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपताका, (५) खुमान रासो, (६) बीसलदेव रासो, (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचन्द्र प्रकाश, (९) जयमयंक जस चन्द्रिका, (१०) परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), (११) खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति-पदावली।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों को विवेचना योग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए उन्होंने लिखा था कि अन्य पुस्तकों में से—(१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, (२) कुछ नोटिस मात्र हैं और (३) कुछ जैन-धर्म के उपदेश विषयक हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण' शीर्षक निबंध में लिखा है—"इधर हाल की खोजों से पता चला है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उसमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।"

वे रचनाएँ जिनमें सूखा धर्मोपदेश-मात्र है, उन्हें विवेचना के योग्य नहीं समझना ही उचित है। किन्तु कुछ ऐसी भी पुस्तकें हैं जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। 'संदेश रासक' ऐसी ही सुन्दर रचना है। इसके अतिरिक्त

अन्य भी कई ग्रंथ हैं जिन्हें हमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना ही होगा।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति और परम्परा :—वीरगाथा-काल की काव्य सृजनात्मक प्रणालियों में सबसे प्रमुख प्रणाली 'रासो'-प्रणाली थी। इस प्रणाली का प्रयोग प्रबंध और गीतात्मक प्रबंध दोनों रूपों में हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' आदि अनेक काव्य-ग्रन्थ पहले प्रकार के काव्य में हैं तथा 'वीसलदेव रासो' दूसरे प्रकार में है।

'रासो' शब्द की उत्पत्ति गार्सांदतासी के अनुसार 'राजसूय' यज्ञ से हुई है। शुक्लजी ने लिखा है—"कुछ लोग इस शब्द का संबंध 'रहस्य' से बताते हैं। पर 'वीसलदेव रासो' मे काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।" डा० उदयनारायण तिवारी ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रास' शब्द से मानी है। 'रास' का अर्थ है लीला। इन सभी मतों में डा० उदयनारायण तिवारी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। लीला के रूप मे इन चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता चरित-नायकों की जीवन-लीला का वर्णन किया है। इन चरितनायकों की जीवन-लीला का अधिकांश युद्ध-भूमि पर ही बीता, इसलिये इन कवियों ने उनके चरित्र के प्रमुख पक्ष वीरता को ही अधिक उभारा है। आगे चलकर 'रासो' शब्द वीररसात्मक काव्य के अर्थ में ही रूढ़ हो गया।

खुमान रासो :—'रासो' ग्रंथों में सबसे पहला उल्लेख 'खुमान-रासो' का मिलता है। 'शिवसिंह सरोज' में इसे किसी अज्ञात-नामा भाट का लिखा हुआ ग्रन्थ बताया गया है। कर्नल टाड ने इस पुस्तक की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। खुमान नाम के तीन राजा चित्तौड़ में हुए हैं, जिनमें पहले खुमान का समय ७५८ ई० से ८०८ ई० तक, दूसरे का ८१३ ई० से ८४३ ई० तक, और तीसरे का ९०८ ई० से ९३३ ई० तक माना गया है। 'खुमान रासो, में खलीफा अलमामू के

आक्रमण का समय ८१३ ई० से ८३३ ई० के बीच माना जाता है। यह समय दूसरे खुमान के शासन-काल का है, अतः यह अनुमान किया गया है कि 'खुमान रासो' दूसरे खुमान के चरित्र को आधार बना कर ही लिखा गया होगा। शुक्लजी ने लिखा है—"अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी।"

अगरचंद नाहटा ने 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' अंक ४ में लिखा है—"(१) इस ग्रंथ में बप्पा से लगाकर राजसिंह तक का वृत्तान्त विस्तार से होने के कारण ग्रंथ का नाम 'खुम्माण रासो' रखा गया है। (२) इसकी भाषा राजस्थानी है। (३) इसके रचयिता तपागच्छीय जैनकवि दौलत विजय हैं, जिनका अर्हन्तकी से दीक्षा लेने के पूर्व दलपत नाम था। (४) निर्माणकाल सं० १७३० से १७६० के मध्य।" अतः अगरचन्द नाहटा के अनुसार 'खुमान रासो' हिन्दी का आदि 'रासो' ग्रंथ नहीं है।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में लिखा है कि ये तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजय के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था, पर दीक्षा के बाद बदलकर दौलत विजय रख दिया था। हिन्दी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमाण (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचना-काल सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक है।"

डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"यह प्रति अपूर्ण है। इसमें चित्तौड़ के महाराणा प्रताप तक का हाल दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि यह प्रति समय-समय पर कवियों के हाथों से नयी सामग्री प्राप्त करती रही और अपने पूर्व रूप की केवल एक छाया ही रख सकी। अतएव 'खुम्माण रासो' अब अपने वास्तविक रूप में नहीं है।

खुमान का समय सं० ८८७ माना गया है और महाराणा प्रताप का विक्रम की १७वीं शताब्दी। इस प्रकार 'खुमान रासो' लगभग ८०० वर्षों के परिमार्जन का फल है।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है "आज-कल 'खुमान रासो' की जो प्रति मिलती है वह अपूर्ण है। कर्नल टाड ने जो प्रति देखी थी, वह इससे कहीं अधिक विस्तृत और पूर्ण थी। वर्तमान 'खुमान रासो' में महाराणा राजसिंह (राज्यकाल १६५८ ई०-१६७० ई०) तक के राजाओं का वर्णन है। स्पष्ट ही यह ग्रन्थ उतना प्राचीन नहीं है जितना समझा गया है। × × इस प्रकार इस ग्रंथ की चर्चा आदिकाल में नहीं होनी चाहिए।"

उपर्युक्त विद्वानों के मतों का मध्यम मार्ग यही स्वीकार किया जा सकता है कि 'खुमान रासो' वास्तव में ग्रंथ तो ६वीं शताब्दी का है, परन्तु इसमें परिवर्त्तन और परिवर्द्धन १७वीं शताब्दी तक होता रहा है। अतः जहाँ तक 'रासो'-प्रणाली का सम्बन्ध है, यह सबसे पहला काव्य-ग्रंथ है।

वीसलदेव रासो :—'वीसलदेव रासो' के कवि नरपति नाल्ह थे। कवि ने ग्रन्थ में कई स्थानों में अपने नाम का उल्लेख किया है।

'नाल्ह' रसाहण रस भरि आइ।
तूही छई सारदा त्रिभुवन माही॥ (पृ० ६८)

रचना-काल :—ग्रंथ के रचना-काल के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है—

बारह सै बहोत्तराँ मझरि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तू ठी ब्रह्मकुमरि॥

'बारहसो बहोत्तर' का अर्थ शुक्लजी ने १२१२ लगाया है। गणना करने पर जेठ वदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है।

किन्तु पुस्तक की भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठ-भेद होने के कारण विद्वानों में ग्रंथ के रचना-काल के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने भिन्न-भिन्न प्रतियों की निम्न लिखित पंक्तियाँ उद्धृत की है :—

१. अभय जैन ज्ञान भण्डार की प्रति :—

संवत् बारह बारोत्सरा मझारि
जेठ वदी नवमी बुधवारि ।

२. अभय जैन ज्ञान भण्डार की अन्य प्रति:—

संवत् सहस सहितरह जाणि
नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि ।

३. वालोत्तरा भण्डार की प्रति :—

संवत् सहस तिहुतइ जाणि ।

४. कृपाचन्द सूरि ज्ञान भण्डार की प्रति :—

संवत् सतर तिहोत्तरे जाणि ।

५. दान सागर भण्डार की प्रति :—

संवत् सहस तिहुतरे ।

६. कोटा के खरतर गच्छ भण्डार की प्रति :—

संवत् तेर सतोतरह जाणि
सुक्ल पंचमी नह श्रावण मास ।

नाहटा जी ने 'बहोत्तरा' का अर्थ बहत्तर माना है और पुस्तक का रचना-काल सं० १२७२ माना है। श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने नाहटा जी द्वारा दी गई भिन्न प्रतियों और तिथियों की जाँच की है। वे भी 'बहोत्तरा' का अर्थ ७२ ही मानते हैं। उनके अनुसार राजस्थानी भाषा में उसका यही अर्थ समीचीन है। राजपुताने में विक्रम संवत् कहीं चैत्रादि अर्थात् चैत्र सुदी १ से प्रारम्भ होने वाला और कहीं कार्त्तिकादि अर्थात् कार्त्तिक सुदी १ से प्रारम्भ होने वाला चलता था। जाँच करने पर ओझा जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कार्त्तिकादि विक्रम संवत् १२७२ को बुधवार ही पड़ा था।

इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय विद्वानों में डा० श्यामसुन्दर

दास, मिश्रबंधु तथा श्री सत्यजीवन वर्मा इसका निर्माण-काल क्रमशः सं० १२१२, १२२० और १२१२ मानते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ने ओझा जी के मत का ही समर्थन किया है।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रन्थ राजस्थानी भाषा और साहित्य में 'वीसलदेव रासो' को १६ वीं, १७ वीं शताब्दी की रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु विद्वानों की शोधों ने मेनारिया जी का निष्कर्ष लगभग अनर्गल सिद्ध कर दिया है। 'बीसलदेव रासो' वास्तव में १३ वीं शताब्दी की ही रचना है।

जाति :—नरपति नाल्ह की जाति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। पं० शुक्ल ने उन्हें भाट माना है। डा० उदयनारायण तिवारी उन्हें ब्राह्मण मानते हैं। प्रमाणस्वरूप उन्होने निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है :—

नरपति व्यास कहइ कर जोड़ि
तो तूण तैंतिसो कोड़ि ॥६१॥

किन्तु डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित प्रति में इस व्यास शब्द का प्रयोग नहीं है।

अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थानी' में लिखा है—"बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को श्री सत्यजीवन वर्मा और श्री रामचन्द्र शुक्ल भाट लिखते हैं, परन्तु ग्रन्थ में स्पष्ट उसे व्यास या जोइसी लिखा है। राजपुताने में ये दोनों जातियाँ ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत हैं। हमें नाल्ह ब्राह्मण ही जान पड़ता है।"

नरपति नाल्ह की लिखी 'बीसलदेव रासो' के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं हुई है। गीत काव्य होने के कारण उसके शब्दों में परिवर्तन भी अधिक हुआ है। ऐसी स्थिति में 'व्यास' शब्द को लेकर कवि की कोई निश्चित जाति निर्धारित करना कठिन है।

पुस्तक-परिचय :—'बीसलदेव रासो' के चार खंड हैं। पहले खंड में मालवा के भोग-परमार की पुत्री राजमती से साँभर के राजा बीसलदेव के विवाह का वर्णन है। दूसरे खंड में बीसलदेव का राजमती से रूठ कर उड़ीसा की ओर प्रस्थान तथा वहाँ एक वर्ष तक रहने का वर्णन है। तीसरे खंड में राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटने का प्रसंग है। चौथे खंड में भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले आना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ ले आने का वर्णन है। यह घटनात्मक काव्य नहीं होकर वर्णनात्मक काव्य है।

इसकी भाषा साहित्यिक नहीं है, बल्कि राजस्थानी लोक-भाषा है; किन्तु उसमें साहित्यिक भाषा को मिलाने का भी प्रयत्न है। शुक्लजी ने लिखा है—"भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेर-फार होता आया है। यह लिखित रूप में रचित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है।" इसमें जगह-जगह फारसी, अरबी, तुर्की तथा भिन्न प्रान्तीय शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जिससे सूचित होता है कि पुस्तक की भाषा में आगे चलकर बहुत परिवर्तन होता रहा है।

इस ग्रन्थ में शृंगार की प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाये हैं।

ऐतिहासिकता :—इतिहास के साथ मिलाकर देखने पर 'वीसलदेव रासो' में घटना तथा तिथि सम्बन्धी अनेक असंगतियाँ मिलती हैं। शुक्लजी ने राजमती और वीसलदेव के विवाह की घटना को कल्पित माना है। उनके अनुसार बीसलदेव से १०० वर्ष पूर्व धार के प्रसिद्ध राजा भोज का देहान्त हो गया था। बीसलदेव के समकालीन किसी राजा का नाम भोज नहीं था। सम्भवतः परमारों के वंश में भोज की उपाधि चली आई है।

डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है—"अजमेर और साम्भर

के चौहानों में विग्रहराज नाम के चार राजा हुए थे जिनको बीसलदेव कहते थे। विग्रहराज तृतीय का समय सं० ११५० तथा विग्रहराज चतुर्थ का सं० १२१० से १२२० तक वर्तमान रहना शिलालेखों से सिद्ध होता है। 'बीसलदेव रासो' में कोई वंशावली नहीं दी गई है, अतः यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह कौन-सा विग्रहराज था। नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण के सम्पादक उसे विग्रहराज चतुर्थ मानते हैं।"

अगर विग्रहराज चतुर्थ का 'बीसलदेव रासो' का यथार्थ चरितनायक मानें तो ऐतिहासिक दृष्टि से उनका विवाह भोज की पुत्री से संगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भोज का समय सं० ११११ के आस-पास पड़ता है और विग्रहराज चतुर्थ का सं० १२१० के आस-पास। दोनों में १०० वर्ष का अन्तर है।

डा० उदयनारायण तिवारी की कल्पना है कि विग्रहराज तृतीय की पत्नी का नाम राजदेवी था। अतः डेढ़ सौ वर्ष बाद सुनी हुई बातों के आधार पर नाल्ह ने बीसलदेव और राजमती के विवाह की घटना को छन्दोबद्ध कर दिया हो। इस कल्पना में कुछ सचाई हो सकती है। उन्होंने लिखा है—"वास्तव में नरपति न तो कोई इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। किसी सुने-सुनाये आख्यान के आधार पर लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसने कुछ बेतुकी तुकबन्दी करके काव्य का एक ढाँचा येन-केन प्रकारेण खड़ा कर दिया जिस पर उसके पश्चात् के कवियों ने नमक-मिर्च लगाया। इस प्रकार एक साधारण कवि के मिथ्याबहुल काव्य को लेकर, जिसका असली रूप भी इस समय सुरक्षित नहीं, इतनी ऐतिहासिक ऊहापोह करना व्यर्थ है।" (वीरकाव्य पृ० १९५)

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य' (पृ. ५२) में लिखा है—"यह तो निश्चित है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव का सम-

सामयिक कवि नहीं हैं। वर्तमानकालिक क्रियाओं को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। राजपुताने के साहित्य में इस प्रकार की वर्तमान-कालिक क्रियाओं का प्रयोग बराबर होता रहा है। इस पुस्तक की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६६ अर्थात् १६१२ ई० की है। श्री मोतीलाल मेनारिया का विश्वास है कि नरपति नाल्ह गुजराती के नरपति नामक कवि से अभिन्न है। उनकी गुजराती रचनाओं से 'बीसलदेव रासो' की भाषा का आश्चर्यजनक साम्य है। इस प्रकार मेनारिया जी के अनुसार 'बीसलदेव रासो' का रचना-काल १५४१ई०–६० ई० तक के आस-पास निकलता है जिसकी पुष्टि उसकी भाषा से होती है, जो हर्गिज १६वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है।"

उपर्युक्त मतों के प्रकाश में इतना कहा जा सकता है कि ग्रंथ तो वह अवश्य पुराना है, किन्तु गीतात्मक होने के कारण उसके सभी पक्षों में परिवर्तन इतना अधिक हो गया है कि उसकी घटनाओं और भाषा की संगति इतिहास के आधार पर नहीं बैठाई जा सकती है।

पृथ्वीराज रासो

चंद्वरदाई (संवत् १२०५ से १२४६):—'पृथ्वीराज रासो' के कवि चन्दवरदाई का जन्म लाहौर में माना जाता है। ये हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते रहे हैं। ये दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। जनश्रुति है कि इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों की मृत्यु भी एक ही दिन साथ-साथ हुई। ये व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में प्रवीण थे। ये पृथ्वीराज के अभिन्न मित्र थे। इनका जन्म लाहौर में हुआ था। ये बाल्यावस्था में ही अजमेर चले आए थे और वहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। पृथ्वीराज को जब दिल्ली का राज्य प्राप्त हुआ तो उन्होंने चंद को अपने यहाँ रख लिया।

चंद की दो पत्नियाँ थीं—कमला और गोरी तथा १२ पुत्र थे जिनमें सबसे छोटा जल्हण था जो अच्छा कवि था। कहा जाता है कि जब चंद महाराज पृथ्वीराज को छुड़ाने के प्रयास में गजनी जाने लगे थे तो उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' की अपूर्ण प्रति जल्हण के हाथ में देते हुए उसे पूर्ण करने का भार सौंपा था।

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज।"

चंद के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने इतना ही लिखा है; किन्तु इन बातों को सभी विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता को संदिग्ध करार देनेवाले कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने चन्द के अस्तित्व तक को अस्वीकार किया है। ऐसे लोगों में सर्वप्रथम डा० वूलर हैं। इनके अतिरिक्त कविराज श्यामलदान, मुरारीदान तथा पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी चंद के अस्तित्व को अनैतिहासिक बताया है; किंतु अन्य विद्वान् इसका समर्थन नहीं करते।

ग्रंथ-परिचय:—'पृथ्वीराज रासो' ढाई हजार पृष्ठों का एक महाग्रन्थ है। इस ग्रंथ में ६९ समय (सर्ग) हैं। यह प्रसिद्ध है कि चंद ने अपनी पत्नी के किये गए प्रश्नों और शंकाओं के समाधान के रूप में इस ग्रंथ की रचना की थी। इसमें महाकाव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार आकार-प्रकार के साथ ही साथ इसकी आत्मा भी महाकाव्य की है।

इस ग्रंथ में मुख्य कथा के साथ-साथ छोटे-मोटे प्रसंगों के सूत्रों को बड़ी कुशलता के साथ पिरोया गया है। इसमें रसभंग या कथाप्रवाह में व्याघात तथा व्यतिक्रम कहीं नहीं होता। इसकी उपकथाएँ तथा इसके वर्णन सभी इसके कथा-प्रवाह में सहायक हैं। कवि की वर्णन-कुशलता तथा सजीव मूर्त्ति खड़ा कर देने की अपूर्व क्षमता अत्यन्त श्लाघ्य है। यह काव्य-ग्रंथ नाटकीय गुणों से भी मंडित है। पात्रों की कर्मठता तथा क्रियाशीलता इसके चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ हैं। इसमें दृश्य-काव्य की सजीवता और महाकाव्य की भव्यता है। सम्पूर्ण पुस्तक

में एक भी गतिहीन अकर्मण्य पात्र नहीं हैं। कर्म समारोह की व्यस्तता सम्पूर्ण व्याप्त है।

भाषा :—इसकी भाषा साहित्यिक राजस्थानी अर्थात् डिंगल है। डिंगल भाषा का विकास भी शौरसेनी प्राकृत अपभ्रंश से हुआ था जैसे व्रजभाषा का। साहित्यिक व्रजभाषा को पिंगल और साहित्यिक राजस्थानी को डिंगल के नाम से पुकारा जाता है। डिंगल की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति 'डगर' (असंस्कृत भाषा) से मानते हैं। कुछ लोग इसे 'पिंगल' के तुक पर ढला हुआ निरर्थक शब्द मानते हैं। कुछ विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति डिम+जल के रूप में बताते हैं अर्थात् वह भाषा जिसकी ध्वनि डमरू की ध्वनि के समान कर्कश हो। डमरू की ध्वनि को 'डिमंजल' कहते हैं। इस प्रकार वे डिमंजल (अथवा डिम+जल) से 'डिगल' शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। इन मतों में कौन मत सत्य है, कहना कठिन है। जो भी हो डिंगल का तात्पर्य राजस्थानी भाषा से है।

शुक्लजी ने वीरगाथा काव्य की भाषा को पिंगल ही माना है, किन्तु डा० रामकुमार वर्मा तथा राजस्थानी विद्वान् वीरगाथा-काल के साहित्य को डिंगल-साहित्य ही कहते हैं।

ग्रंथ में निरन्तर परिवर्तन और परिवर्द्धन होने के कारण इसकी भाषा में एकरूपता नहीं रह गयी है। इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिंगल, आभीरी अरबी, फारसी, तुर्की तथा प्रान्तीय बोलियों के शब्द भी मिल गये हैं। कहीं-कहीं भाषा अत्यन्त आधुनिक सी भी प्रतीत होती है।

छंद :—कुछ विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो' को छंदों का कोश कहा है। इसमें प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का प्रयोग हुआ है। कुछ ऐसे अपरिचित तथा नये छंदों का प्रयोग भी है जिनका नाम न तो उसके पहले के साहित्य में मिलता है और न परवर्ती साहित्य में ही उनका प्रयोग हुआ है। मुख्य छंद हैं-छप्पय, दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, और आर्या।

ग्रंथ की कथावस्तु :—पृथ्वीराज रासो में आबू के यज्ञकुंड से चौहान आदि चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति से लेकर चौहान के अजमेर में राजस्थापन तथा पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का विस्तारपूर्वक वर्णन है। ग्रंथ के प्रमुख नायक पृथ्वीराज चौहान हैं। पृथ्वीराज 'रासो' के अनुसार अजमेर के राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री से हुआ था। अनंगपाल की सुंदरी तथा कमला नाम की दो पुत्रियाँ थीं। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ था तथा कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर से हुआ था। सुंदरी से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई थी और पृथ्वीराज सोमेश्वर तथा कमला के पुत्र थे। अनंगपाल को कोई पुत्र नहीं था इसलिए उन्होंने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया। जब पृथ्वीराज दिल्ली के राजा हुए तो अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। चूँकि अनंगपाल ने जयचंद को गोद नहीं लेकर पृथ्वीराज को गोद लिया था इसलिए जयचंद पृथ्वीराज से जलता था।

जयचंद की पुत्री संयोगिता जब विवाह के योग्य हुई तो उसने उसका स्वयंवर रचाया जिसमें पृथ्वीराज को छोड़कर अन्य सभी राजा आमंत्रित थे। पृथ्वीराज की एक मूर्ति बनवाकर जयचंद ने द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी थी; किंतु संयोगिता पहले से ही पृथ्वीराज पर अनुरक्त थी। उसने पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी। बाद में पृथ्वीराज ने संयोगिता का हरण किया। रास्ते में जयचंद की सेना से युद्ध भी हुआ।

शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के युद्ध का कारण था कि शहाबुद्दीन एक सुंदरी पर आसक्त था, किन्तु वह एक दूसरे पठान सरदार हुसेन शाह को चाहती थी। शहाबुद्दीन के भय से भागकर वे दोनों पृथ्वीराज की शरण में आए। इसी बैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाई की। वह बार-बार पृथ्वीराज से हारता रहा। लेकिन १२वीं बार

पृथ्वीराज कैद कर लिये गए और गजनी भेज दिए गये। वहाँ उनकी आँखें निकाल ली गई। फिर कुछ दिनों के बाद चंद वहाँ पहुँचे। चंद के संकेत से शब्दबेधी बाण चलाने के बहाने पृथ्वीराज ने गोरी को मार डाला। फिर वहीं पृथ्वीराज और चंद भी एक दूसरे को मारकर मर गये। इस प्रमुख कथा के साथ और अनेक अवान्तर कथाएँ भी हैं जिनमें अनेक राजाओं के साथ पृथ्वीराज का युद्ध और अनेक राजकन्याओं से उनका विवाह वर्णित है।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता :—प्रारम्भ में 'पृथ्वीराज रासो' इतिहास की दृष्टि से भी प्रामाणिक ग्रंथ माना गया था, जिसके मुख्य कारण कर्नल टाड थे। उन्होंने अपने इतिहास में 'रासो' की बड़ी प्रशंसा की और उसमें वर्णित बहुत सी घटनाओं को सत्य मानकर अपने ग्रंथ में स्थान दिया।

इसके बाद ही (Royal Asiatic Society of Bengal) 'रॉयल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल' की स्थापना हुई, 'रासो' का प्रकाशन कार्य आरम्भ हुआ। किन्तु इसका कुछ ही अंश प्रकाशित हुआ था कि डा० बूलर को काश्मीर में 'पृथ्वीराज विजय' की एक खंडित प्रति मिली, जिसकी तिथियाँ तथा घटनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों से विशेष मेल खाती थीं। इस कारण 'रासो' से वह ग्रंथ विशेष प्रामाणिक माना गया और 'रासो' का प्रकाशन बन्द करा दिया गया। फिर बाद में 'नागरी प्रचारिणी सभा' से उसका प्रकाशन हुआ।

इस तरह 'रासो' का जाली ग्रंथ कहनेवालों में एक व्यक्ति डा० बूलर भी थे। उन्होंने 'रायल एसियाटिक सोसायटी (Bombay branch) के जर्नल में लिखा था—"मैं समझता हूँ, इस काल के इतिहास पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और चंद का रासो अप्रकाशित ही रहने दिया जाय। वह जाली है, जैसा जोधपुर के मुरारीदान और श्यामलदान ने बहुत पहले कहा है। 'पृथ्वीराज

विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के बन्दिराज या प्रधान कवि का नाम पृथ्वीभट्ट था, न कि चंदवरदाई।"

उन दिनों यूरोपियन विद्वान् मध्यदेशीय रचनाओं का महत्व दो दृष्टियों से आँकते थे—ऐतिहासिक तथ्यों का प्राप्त करने और भाषा-शास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से। 'रासो' से इन उद्देश्यों की पूर्ति होती हुई नहीं दीखी तो उसे जाली मान लिया गया। उस समय विद्वानों की दृष्टि में यह बात नहीं आई कि क्या कारण है कि 'रासो' में ऐसी ऐतिहासिक और भाषा संबंधी अव्यवस्था है। इस अव्यवस्था का प्रधान कारण है कि 'चंद' के बाद इस ग्रंथ की पूर्ति, परिवर्तन और परिवर्द्धन में केवल एक जल्हण ने नहीं, अनेक जल्हणों ने अपना योगदान दिया। ऐसी स्थिति में इसमें ऐतिहासिक या भाषाशास्त्रीय तथ्यों की छान-बीन करना ही गलत था।

ये बातें शुक्लजी तक के ध्यान में नहीं आयीं। उन्होंने लिखा है—"माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्य ग्रंथ है, परन्तु काव्य ग्रंथों में सत्य घटनाओं के बिना प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' भी तो काव्य ग्रंथ ही है, फिर उसमें क्यों घटनायें और नाम ठीक-ठीक हैं। इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं है कि यह पूरा ग्रंथ जाली है।"

कर्नल टाड से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक गार्सा द तासी ने 'रासो' को प्रामाणिक माना था। किन्तु राजपुताने के दो विद्वानों ने, जिनका नाम मुरारीदान और श्यामलदान है, डा. बूलर को विश्वास दिलाया कि वह ग्रंथ जाली है। उन लोगों ने अपने मत की पुष्टि के लिए संवत् १६४३ में 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' नामक एक पुस्तक लिखी। उसके उत्तर में श्री विष्णुलाल पंड्या ने 'रासो की प्रथम संरक्षा' नाम की एक पुस्तक सं० १६४४ में लिखी। उन्होंने उसमें इस बात पर जोर दिया कि यथार्थ संवत् से 'रासो' के संवत् में जो ६० वर्षों का अन्तर पड़ता है, उसका एक विशेष

कारण है। उन्होंने 'रासो' का एक दोहा उद्धृत किया है—

"एकादस से पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपु जय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥"

उन्होंने इसमें आए हुए 'अनंद' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—अ=०, नन्द=९ अर्थात् ९०। ये ९० वर्ष यथार्थ संवत् से इसलिए कम कर दिए गये कि ९० वर्ष तक नंदवंशियों का राज्य था जिन्हें राजपूत राजे शूद्र मानते थे। यही कारण है कि यथार्थ संवत् से 'रासो' के संवत् में ९० वर्ष का अंतर सर्वत्र पाया जाता है।

इसके कुछ दिनों के बाद रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'रासो' में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिल्कुल भाटों की कल्पना मानते हुए लिखा कि न तो रासो, इतिहास का खजाना है और न उसकी रचना ही पृथ्वीराज के राजत्वकाल में हुई है। 'अनंद' संवत् तो 'कष्ट-कल्पना' मात्र है। ओझाजी ने 'रासो' का रचना-काल १५१६ से १६४२ के बीच माना है और श्यामलदान ने १६०० से १६४० ई० के बीच माना है।

इस प्रकार 'रासो' की प्रामाणिकता के प्रश्न पर विद्वानों के दो दल किए जा सकते हैं—पक्ष और विपक्ष। पक्ष का समर्थन करनेवालों के अनुसार 'रासो' का मूल रूप अवश्य प्रामाणिक रहा होगा, किन्तु बाद में उसमें बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़ गये हैं। इस तरह के विचार रखनेवालों में कर्नल टाड, गार्सीद तासी, मिश्रबंधु, मोहनलाल, विष्णुलाल पंड्या, श्यामसुंदर दास, डा. उदयनारायण तिवारी तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। विपक्ष में रहनेवाले विद्वानों में डा. वूलर, कविराज श्यामलदान, मुरारीदान, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मारिसन, मुंशी देवीप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के अनुसार 'रासो' पूर्ण रूप से जाली ग्रंथ है और बहुत बाद की रचना है।

'रासो' को जाली ठहराने के लिए दिये गए प्रमाण और उनकी समीक्षा:—

(१) इतिहास सम्बन्धी भूलें, जो शिलालेखों और 'पृथ्वीराज विजय' से सिद्ध होती हैं। 'विजय' में पृथ्वीराज का राजकवि एक 'पृथ्वी भट्ट' नामक कवि बतलाया गया है। उसमें चंदवरदाई का नाम कहीं नहीं है। 'रासो' में परमार, चालुक्य, चौहान, अग्निवंशी माने गये हैं, पर शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी ठहरते हैं। रासो में जयचंद को अनंगपाल का दौहित्र और राठौरवंशी कहा गया है, किन्तु शिलालेखों से वे गहरवाड़ ठहरते हैं। ओझा जी के अनुसार जयचंद और पृथ्वीराज की शत्रुता तथा 'संयोगिता स्वयंवर' कपोल कल्पित बातें हैं। गुजरात का राजा भीमसेन 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज द्वारा मारा गया, पर शिलालेखों के अनुसार वह पृथ्वीराज के बाद भी बहुत दिनों तक जीवित था। शहाबुद्दीन, रासो के अनुसार पृथ्वीराज के तीर से मारा गया, किन्तु इतिहास के अनुसार वह १२०३ ई० में गक्कारों के हाथ मारा गया। पृथ्वीराज की बहन पृथा कुँवरि रासो के अनुसार चित्तौड़ के राजा समरसिंह से ब्याही गई थी जो इतिहास-विरुद्ध है, क्योंकि समरसिंह के अभिलेख सन् १२७८ और १२८५ के बीच के मिले हैं। इसके बहुत पूर्व ही पृथ्वीराज मर चुके थे।

पक्ष के विद्वानों का उपर्युक्त ऐतिहासिक भ्रांतियों के संबंध में कहना है कि अधिक भ्रांतियाँ भ्रांतियाँ नहीं हैं, क्योंकि 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्टे परवानों से उनकी पुष्टि होती है। अगर कुछ भ्रांतियाँ हैं भी तो वे क्षेपक के कारण तथा अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णनशैली के कारण हैं। 'पृथ्वीराज विजय' में अगर चंदवरदाई का नाम नहीं मिलता तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि चंद पृथ्वीराज के दरबार में नहीं थे, क्योंकि 'पृथ्वीराज विजय' की अधूरी प्रति ही मिली है। हो सकता है कि उसके बाद के अंश में जो अप्राप्य है, चंदवरदाई का नाम आया हो। 'सूर्यवंशी' और 'अग्निवंशी' में कोई

विशेष भिन्नता नहीं है। 'सूर्यवंशी' शब्द के लिए 'अग्निवंशी' शब्द की कल्पना चंद की कल्पना की देन है। जहाँ तक जयचंद और पृथ्वीराज की शत्रुता का प्रश्न है, वह डा. दशरथ शर्मा ने संवत् १२७० में लिखे 'पृथ्वीराज प्रबंध' के अनुवाद से सिद्ध कर दिया है कि जयचंद और पृथ्वीराज में शत्रुता थी और पृथ्वीराज की मृत्यु पर जयचंद की राजधानी में घी के दिए जलाये गये थे।

(२) तिथियाँ :—विपक्ष के विद्वानों के अनुसार 'रासो' की तिथियों और इतिहास की तिथियों में कोई मेल नहीं है। इस सम्बन्ध में पक्ष के विद्वानों में पं॰ मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनंद' संवत् की कल्पना की है, जिसके अनुसार नंदवंशी राजाओं को शूद्र मानकर उनके राजत्वकाल का ६० वर्ष घटाकर सवत् लिखा गया है।

(३) भाषा संबंधी अव्यवस्था :—विपक्ष के विद्वानों का कहना है कि 'रासो' में अरबी-फारसी के ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो चंद के समय किसी प्रकार व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। इतना ही नहीं, उसमें नई-पुरानी विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं तथा वह अनुस्वारांत शब्दों से भरी हुई हैं।

अरबी-फारसी शब्दों के सम्बन्ध में पक्ष के विद्वानों का कथन है कि हाबुद्दीन गोरी से दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनी भारत में लूट-मार करने आ चुका था। उससे पहले सिंध और मुलतान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चंद का जन्म लाहौर में हुआ था और उसका बचपन भी वहीं बीता था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फारसी शब्द का होना स्वभाविक ही है। साथ ही आधुनिक प्रतियों में अधिक अंश प्रक्षिप्त ही है, इस कारण भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। जहाँ मूल रूप है वहाँ प्राचीन भाषा है और जहाँ प्रक्षिप्त है वहाँ भाषा की आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है।

उपर्युक्त पक्ष-विपक्ष के विद्वानों के मतों के आधार पर निष्कर्ष यह

निकलता है कि 'रासो' का मूल रूप प्रामाणिक अवश्य रहा होगा। अब उसमें प्रक्षिप्तांश अधिक जुड़ गये हैं।

पृथ्वीराज रासो का प्रामाणिक अंश :—इधर हाल में मुनिजिन-विजयजी ने पुरातन प्रबंध संग्रह में 'जयचंद प्रबंध' नामक एक प्रबंध प्रकाशित किया है जिसमें चंद के नाम से चार छप्पय दिए हैं। वर्तमान रासो की प्रतियों में भी वे छप्पय हैं। इससे इस विश्वास को बल मिलता है कि वर्तमान रासो में चंद के मूल छंद अवश्य हैं।

ऐसे तो मूल अंश को पता लगाना कठिन है, किन्तु उसमें क्या-क्या वस्तुएँ थीं और कौन-कौन सी कथाएँ थीं, इस बात का पता लगा लेना असंभव नहीं। उन दिनों कथा संवाद-रूप में लिखी जाती थी। चंद ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद रूप में लिखा था। फिर चन्द-वरदाई का यह काव्य रासक भी है जो ज्ञेय काव्य हुआ करता था जिसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे। वीररस की प्रधानता होने के कारण चंद ने छप्पय छंदों का अधिक प्रयोग किया था। इन सब दृष्टियों से विचार करने पर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' के निम्नलिखित प्रसंगों को प्रामाणिक माना है—(१) आरंभिक अंश, (२) इंछिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गंधर्व विवाह, (४) तोमर पहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।

इन अंशों की भाषा अव्यवस्थित नहीं है। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से चंद का काव्य बहुत महत्वपूर्ण है।

भट्ट केदार, मधुकर कवि :— (रचना-काल संवत् १२२४ —१२४३)

ये दोनों कवि कन्नौज के सम्राट् जयचंद के दरबारी कवि थे। इन लोगों ने जयचंद का गुणगान किया है। इनके लिखे ग्रंथ 'जयचंद प्रकाश' और 'जयमयंक जसचन्द्रिका' हैं। इनका उल्लेख केवल बीकानेर के राजपुस्तक-भंडार में सुरक्षित सिंढायच दयाल-

-दास कृत 'राठौड़ों की ख्यात' में मिलता है। 'शिवसिंह सरोज' में इन्हें अल्लाउद्दीन गोरी का कवि माना गया है। इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

हम्मीर रासो :—'हम्मीर रासो' शार्ङ्गधर कवि की रचना है। यह भी संदिग्ध ग्रंथ है। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार शार्ङ्गधर चंद के वंश में ही उत्पन्न हुए थे। 'प्राकृत पैङ्गलम' में इस ग्रंथ के कुछ पद्य उद्धत हैं जिनमें हम्मीर की वीरता का वर्णन है। किन्तु उन पद्यों को शार्ङ्गधर की रचना मानने में पं० राहुल सांकृत्यायन को आपत्ति है, क्योंकि उनमें 'जज्जल कवि' का नाम आया है।

विजयपाल रासो :—इसके कवि नल्ल सिंह माने गये हैं। कहा गया है कि नल्ल सिंह ने संवत् १०६३ में हुई विजयपाल सिंह और पंग राजा की लड़ाई का वर्णन किया है। मिश्रबंधुओं के अनुसार इसका रचना काल सं० १३५५ है। इसकी भाषा और शैली पर विचार करने पर यह भी बाद की रचना प्रतीत होती है।

परमाल रासो :—इसके कवि जगनिक माने जाते हैं। जगनिक कालिंजर के राजा परमाल के दरबारी कवि थे। इन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों–आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो उत्तरी भारत में बहुत लोकप्रिय हुआ। जगनिक के मूलकाव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार साहित्यिक रूप में न होकर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बलखाती हुई अब तक चली आ रही है। रामचंद्र शुक्ल ने जगनिक का समय संवत् १२३० के लगभग माना है। फर्रुखाबाद के कलक्टर मि. चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित इन गीतों का संग्रह 'आल्हा-खंड' के नाम से छपवाया था।

संदेश रासक :—इसके कवि अब्दुल रहमान थे। ये मुलतान के

रहनेवाले थे। इनका समय लगभग ११ वीं शती माना जाता है। 'संदेश रासक' में एक बहुत ही सुंदर प्रेम कहानी है। हेमचंद के दोहों में एक दोहा 'संदेश रासक' का भी है। इसकी कहानी सरल और मर्म-स्पर्शी है। मुलतान जाते हुए एक पथिक से एक विरहिनी अपने पति के लिए संदेश कहती है, जो मुलतान गया हुआ है। उसमें भिन्न-भिन्न ऋतुओं का भी वर्णन है। संदेश मे करुण वेदना और तीव्र मर्मस्पर्शिता है। यह एक महत्वपूर्ण विरह-काव्य है।

खुसरो :—खुसरो का समय संवत् १३४० के आस-पास मान जाता है। ये गयासुद्दीन बलवन से लेकर कुतुबुद्दीन तक वर्तमान थे। ये फारसी के बहुत अच्छे विद्वान् थे। इनकी मृत्यु संवत् १३८१ में हुई।

खुसरो की बहुत सी पहेलियाँ, मुकरियाँ तथा ढकोसले पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं में दो प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं—ठेठ बोल-चाल की खड़ी बोली और ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली। ठेठ खड़ी बोली का प्रयोग पहेलियों और मुकरियों में हुआ है और गीतों तथा दोहों में ब्रजभाषा निर्मित खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं तो एक ही रचना में एक पंक्ति फारसी की है तो दूसरी पंक्ति सरल खड़ी बोली की। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे हैं—

खड़ी बोली:—

एक नार ने अचरज किया, साँप मारि पिंजड़े में दिया।
जों जों साँप ताल को खाय, सूखे ताल साँप मरि जाय। (दीया बत्ती)

ब्रजभाषामिश्रित खड़ी बोली—

खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

———

प्रकरण—४

पूर्व मध्यकाल

भक्तिकाल (सं० १३७५—१७००)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग सं० १३७५ से लेकर १७०० तक के समय को भक्तिकाल कहकर पुकारा जाता है। इस अवधि में हिन्दी साहित्य में प्रायः भक्तिपरक रचनाओं का आधिक्य रहा; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस युग में अन्य रसों या विषयों पर साहित्य का सृजन नहीं हुआ। इस युग के साहित्य-का अध्ययन करने के पूर्व तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक स्थिति का संक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है।

राजनीतिक स्थिति :—इस युग तक आते-आते देश पर मुसलमान राजाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या के कारण देश के सभी हिन्दू राजे आपसी संघर्ष से ही इतने निर्बल हो चुके थे कि मुसलमानों को उनको अपने अधीन करने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। शुक्लजी ने लिखा है—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश नहीं रह गया था। उनके सामने ही उनके देव-मंदिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"

धार्मिक स्थिति :—भक्तिकाल तक आते-आते देश का पूर्वी

भाग वज्रयानी सिद्धों एवं कापालिकों से भरा था तथा पश्चिमी भाग नागपंथी योगियों से। किन्तु इन सिद्धों तथा योगियों का प्रभाव प्रधानतः निम्नश्रेणी की जातियों तथा सामान्य जनसमुदाय पर ही था। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर इनका कोई प्रभाव नहीं था। उन लोगों का शास्त्रार्थ, दार्शनिक खंडन-मंडन आदि क्षिप्र गति से चल रहा था। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की परम्परा विद्वत्मंडली के भीतर चल रही थी जिससे परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त-पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

आलवार भक्त :—जिस समय सम्पूर्ण उत्तरी भारत सिद्धों तथा योगियों से भरा था, जिनमें अधिकांश अधकचरे ज्ञानी होने के कारण धर्म के मूलरूप को विकृत कर चुके थे, उस समय सुदूर दक्षिण भारत में आलवार भक्तों में सात्विक भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। आलवार भक्त संख्या में बारह बताये जाते हैं, जिनमें नौ ऐतिहासिक हैं। इन्हीं में आंडाल नाम की एक महिला भी थीं। इनमें से अनेक उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। यह स्पष्ट है कि आलवारों का भक्ति मतवाद साधारण जनता की चीज था, जो क्रमशः शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। संभव है, उस भक्तिवाद को दार्शनिक रूप बाद के आचार्यों ने दिया।

दक्षिण के चार आचार्य :—मध्यकाल में जो हम सम्पूर्ण देश में भक्ति आन्दोलन की लहर व्याप्त देखते हैं, उसका मूल प्रेरक दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही था। बारहवीं शताब्दी के आस-पास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। शंकर का अद्वैतवाद ब्रह्मभक्ति के उपयुक्त नहीं पड़ता था। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिये उपयुक्त न

थी, क्योंकि भक्ति के लिये दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है—एक जीव की और दूसरे भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के आलवार भक्त भी इस बात को मानते थे। इसीलिये १२वीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवाद के विरोध में आविर्भूत हुए जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—(१) रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, (२) मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय (३) विष्णुस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय और (४) निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदाय के दार्शनिक मतों में अन्तर है, किन्तु मायावाद के विरोध में वे सभी सहमत हैं। दूसरी बात—भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। इसमें भी सभी एक मत हैं। इन सम्प्रदायों का हिन्दी के भक्तिकाल के साहित्य के साथ सीधा संबंध है।

रामानुजाचार्य :—इनका समय सं० १०७३ के आस-पास माना जाता है। इन्होंने 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय' नाम का सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय में 'विष्णु' या 'नारायण' आराध्य देव माने गये। रामानुजाचार्य मर्यादा के बड़े पक्षपाती थे। इनके सम्प्रदाय में खान-पान, आचार-विचार आदि पर बड़ा जोर दिया जाता है। इन्हीं की चौथी या पाँचवीं शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानंद हुए। रामानंद के गुरू राघवानंद थे। किसी अनुशासन संबंधी विषय पर गुरू से मतभेद हो जाने पर इन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आये। रामानुज की मृत्यु सं० ११९४ में हुई।

मध्वाचार्य :—मध्वाचार्य पहले शैव थे, बाद में वैष्णव हो गये। इनके ब्राह्म सम्प्रदाय से हिन्दी साहित्य का प्रत्यक्ष संबंध नहीं। चैतन्य देव पहले इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, किन्तु बाद में उन्होंने अपना 'गौड़ीय वैष्णव मतवाद' चलाया। चैतन्य सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध

भक्त जीव गोस्वामी से, कहा जाता है मीरा ने दीक्षा ग्रहण की थी, किन्तु बाद में मीरा ने रैदास से भी दीक्षा ग्रहण की।

विष्णुस्वामी :—विष्णुस्वामी प्रवर्तित 'रुद्र सम्प्रदाय' वल्लभाचार्य प्रवर्तित सम्प्रदाय के रूप में ही जीवित रहा। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय को 'पुष्टि मार्गी सम्प्रदाय' कहा जाता है। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार, अपने पिता के शिष्य कवियों को तथा चार अपने शिष्य कवियों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी। उनके नाम हैं—सूरदास, कुम्भनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

निम्बार्काचार्य :—निम्बार्क का सनकादि सम्प्रदाय अब उतना प्रचलित नहीं है। इस सम्प्रदाय की एक शाखा राधावल्लभी है जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधिका के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान के पास निवेदित करता है। एक उपसम्प्रदाय सखी सम्प्रदाय है जो इसी सम्प्रदाय का अंग समझा जाता है।

इस प्रकार भक्ति-युग के उत्थान के समय देश में सहजयानी सिद्धों, नाथों तथा दक्षिण के चार आचार्यों के (वैष्णव मतवाद के) भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का प्रचार था। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक और सम्प्रदाय का प्रभाव देश पर थोड़ा बहुत पड़ रहा था, और वह था सूफी सम्प्रदाय।

सूफ़ी सम्प्रदाय :—मुसलमानों के आगमन के साथ देश में सूफी साधकों का भी आगमन होने लगा था। इस्लाम की विशेषता उसका एकेश्वरवाद है। यह समझना गलत है कि एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद एक ही चीज है। एकेश्वरवाद में अनेक देवताओं के स्थान पर एक बड़े देवता की सत्ता स्वीकार की जाती है और हिन्दुओं के बहुदेववाद के मूल में एक अखंड व्यापक भगवान की सत्ता है। अन्य

सभी उसी भगवान के गुणावतार हैं। हिन्दुओं के लिए एकेश्वरवाद एक नई वस्तु थी।

मुसलमानों में भी एक दल ऐसे लोगों का था जो इस्लाम के एकेश्वरवादी दर्शन से सन्तुष्ट नहीं था। वे भगवान को एकेश्वर रूप में नहीं मानकर विशिष्टाद्वैती, वेदान्तियों की तरह मानते थे। यह बात मुसलमानी शास्त्रों के अनुकूल नहीं थी। इस कारण मुसलमानों की ओर से इन पर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। इतिहास में इनके ऊपर किये गये अनेक अत्याचारों की कहानियाँ मिलती हैं। ये ही लोग सूफी कहलाते थे।

सूफियों के भी दो दल थे। एक को 'बेशरा' या शास्त्र बहिर्मूत कहा जाता था तथा दूसरे को 'बाशरा' या शास्त्रसम्मत कहा जाता था। 'बेशरा' वे थे जो इस्लाम के धार्मिक शास्त्रों की अवहेलना करते थे और 'बाशरा' वे थे जो इस्लामी शास्त्र के साथ सामंजस्य रखकर उपासना किया करते थे। प्रारम्भ में ये साधक पंजाब और सिन्ध में आकर बसे, किन्तु बाद में इनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गई। उन दिनों भारतीय चिन्ता की परिणति भक्ति आन्दोलन के रूप में हो चुकी थी। सूफियों की साधना बहुत अंश में इन सन्तों के अनुकूल थी। सूफी साधक दूसरे मुसलमानों की तरह कट्टर नहीं थे, इसीलिये भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक इनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुईन अलदीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिश्ती (१५१२ ई०) आदि सूफी साधकों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर प्राप्त किया था। बहुतों की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या में हिन्दू तथा मुसलमान अपनी भक्ति निवेदन करने जाते हैं। इन्हीं सूफियों में कुतवन, मंझन, जायसी आदि भक्त कवियों का नाम आता है।

भक्ति-आन्दोलन के उत्थान के सम्बन्ध में ग्रियर्सन और शुक्लजी की मान्यताओं का खंडन :—

भक्ति-साहित्य तथा उसके पूर्व के साहित्य की तुलना करते हुए डा. ग्रियर्सन ने लिखा है—"कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की [illegible]दयों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्य[illegible]को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता, जो पुरानी और न[illegible] भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति की नहीं है, बल्कि जिनको समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवक्स टॉमस ए केम्पिन और सेंट थेरिसा से है।" डा. ग्रियर्सन ने आगे लिखा है—"बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रभाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।"

डा. ग्रियर्सन ने हिन्दी के भक्ति आन्दोलनों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि यह ईसाईयत की देन है। ईस्वी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे और रामानुज को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का सन्देश मिला। किन्तु ग्रियर्सन साहब की यह स्थापना मात्र कपोल कल्पना तथा निरर्थक दलील है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने डा. ग्रियर्सन के मत का खंडन करते हुए 'हिन्दी-साहित्य' में लिखा है कि "अब इस अटकल के सहारे स्थिर किये

हुए मत पर कोई विश्वास नहीं करता, इसलिये इसका उत्तर देना बेकार है।"

भक्ति-आन्दोलन के कारण का उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। × × × अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"

शुक्लजी का उपर्युक्त मत उपहासास्पद है। क्योंकि भक्ति-आन्दोलन का जन्म दक्षिण में हुआ था और वहीं से वह आन्दोलन रामानन्द के साथ उत्तर में आया। जिस समय उत्तरी हिन्दुस्तान मुसलमानों द्वारा पदाक्रान्त हो रहा था उस समय दक्षिणी हिन्दुस्तान निरापद था। ऐसी स्थिति में मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उभाड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिये था, पर हुई वह दक्षिण में। अतः यह निर्विवाद है कि भक्ति-आन्दोलन का मुसलमानों के आक्रमण से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।

भक्ति-आन्दोलन का जन्म मुसलमानों के भारत पर आक्रमण करने के पहले ही दक्षिण में हो चुका था। आन्दोलन के मूल में दक्षिण के आलवार भक्त थे जिनकी संख्या बारह थी, जिनमें नौ ऐतिहासिक थे। इन्हीं लोगों की परम्परा में रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। आलवारों का भक्तिवाद पहले जनसाधारण की वस्तु था। इन भक्तों में कई निम्न कुल में उत्पन्न थे, किन्तु बाद में चलकर यह भक्तिवाद शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया और इसका रूप भी शास्त्रीय हो गया।

उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन :—जिस समय मुसलमानों का आगमन उत्तरी हिन्दुस्तान में हुआ, उस समय सम्पूर्ण उत्तरी हिन्दुस्तान बौद्ध-सिद्धों, नाथपंथी योगियों तथा तांत्रिकों से भरा था। वे लोग धर्म के सच्चे रूप तथा उद्देश्य से दूर जा हटे थे। धर्म में कर्म ज्ञान तथा भक्ति की जो तीन धारायें होती हैं, वे सब दूषित हो चुकी थीं। सारांश यह कि मुसलमानों के आगमन के समय उत्तरी भारत में सच्चे धर्म-भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था।

किन्तु उस समय भी शास्त्रज्ञ विद्वानों, उच्च जाति के लोगों, धनी एवं शिक्षित वर्ग आदि पर सिद्धों एवं योगियों की बानियों का कोई असर न था। पण्डितों के शास्त्रार्थ भी होते थे तथा दार्शनिक खंडन-मडन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की परम्परा विद्वत्मंडली के भीतर चल रही थी जिससे परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धांत पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ। भक्ति का जो सोता दक्षिण भारत की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले ही से आ रहा था, उसे राजनैतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला।

उत्तर भारत में भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का श्रेय दो आचार्यों को है—स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य। स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध दो श्रेणी के भक्तों से बताया जाता है। एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक थे जैसे, कबीर आदि दूसरे वे जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे। इन दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधान समानता केवल राम नाम की थी।

रामानन्द :—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अनेक प्रमाणों की चर्चा करते हुए रामानन्द का समय १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार रामानन्द का समय ईस्वी सन् की १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ

में या १३वीं शताब्दी के अन्त में पड़ेगा। ये रामानुजाचार्य की शिष्यपरम्परा में १४ वें व्यक्ति थे। इनके गुरू राघवानन्द माने जाते हैं।

रामानन्द यद्यपि रामानुज की शिष्य-परम्परा में ही थे फिर भी इनकी उपासना-पद्धति भिन्न प्रकार की थी। उपासना के लिये इन्होंने विष्णु का स्वरूप न लेकर राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम थे तथा मूलमंत्र रामनाम था। उन्होंने उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देश-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि का विचार भक्ति-मार्ग से दूर ही रक्खा। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे।

मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरू रामानंद ही थे। भक्ति के जन्म और प्रचार के संबंध में प्रचलित है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नव खंड।

सं० १८५७ में लिखी हुई पुस्तक हरिभक्तिप्रकाशिका (भक्तमाल की टीका, पृ० ८१-८२) में लिखा है—"रामानंद ने देखा कि भगवान् के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिये वर्णाश्रम का बंधन व्यर्थ है, इसीलिये भगवद्भक्त को खान-पान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिये। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।"

रामानंद संस्कृत के पंडित, उच्च ब्राह्मण कुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरू थे, पर उन्होंने सबको त्याग दिया। देश-भाषा में कविता लिखी, ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबको उपदेश दिया। वे अपने किसी व्यक्तिगत मत को किसी शिष्य पर लादने के पक्षपाती नहीं थे। यही कारण है कि यद्यपि वे स्वयं सगुणोपासक थे

फिर भी उनके शिष्यों में कई निर्गुणोपासक भी हुए। रामानंद के अनुसार गुरू को आकाशधर्मा होना चाहिये जो पौधे को बढ़ने के लिये उन्मुक्तता दे, न कि शिलाधर्मा जो पौधे को अपने गुरुत्व से दबाकर उसका विकास ही रोक दे।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार रामानंद के कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योग-प्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणपंथी भक्तिमार्ग तीनों के ही पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरू माना है।

रामानंद के रचे हुए केवल दो संस्कृत के ग्रंथ मिलते हैं—वैष्णव मताब्जभास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति। हिन्दी में इनकी कई छोटी-छोटी पुस्तकें मिलती हैं। जैसे—रामरक्षा, ज्ञानलीला, योगचिन्तामणि, ज्ञानतिलक आदि। किन्तु ये पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं।

भक्तमाल में रामानंद के बारह शिष्य बताये गये हैं—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेना, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इनमें से कई निम्न जाति के थे।

वल्लभाचार्य :—वल्लभ का जन्म सं० १५३५ अर्थात् १४७८ ई० में हुआ था और ये सं० १५८७ अर्थात् १५३० ई० तक जीवित रहे। ये बड़े प्रकाण्ड पंडित थे। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को पुष्टिमार्ग कहते हैं। इस मार्ग के अनुसार भगवान् के अनुग्रह से ही जीव की प्रवृत्ति प्रेमप्रधान भक्ति की ओर होती है। भगवान् के इस अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। इसी से यह मार्ग पुष्टि मार्ग कहलाया। पुष्टिमार्ग के अनुसार जीवों की तीन कोटियाँ हैं—प्रवाह जीव, मर्यादा जीव और पुष्टिजीव। सांसारिक बंधनों में पड़े हुए साधारण जीव को प्रवाह जीव, सांसारिक मर्यादा, लोक मर्यादा तथा शास्त्रीय मर्यादा का पालन करनेवाले मध्यम श्रेणी के जीव को मर्यादा जीव और जो भगवान पर एकान्त भाव से विश्वास करते हैं उनके अनुग्रह का भरोसा

करते हैं और इसी अनुग्रह से पोषण पाते हुए अन्त में नित्य लीला में लीन हो जाते हैं, वे पुष्टिजीव कहलाते हैं।

वल्लभ के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ वेदान्तसूत्र पर लिखा हुआ अणुभाष्य और भागवत की सुबोधिनी टीका है। वल्लभ के आराध्य कृष्ण थे, इसीलिये पुष्टिमार्ग का सम्पूर्ण साहित्य कृष्णलीला के गान से ओत-प्रोत है।

रामानंद और वल्लभ का साहित्य पर प्रभाव :—इस प्रकार श्री रामानद और श्री वल्लभाचार्य ने इस काल के साहित्य को प्रधान रूप से प्रभावित किया। इनके पहले का हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्श से चालित नहीं था। द्विवेदीजी ने लिखा है—

"आश्रयदाता राजाओं के गुणकीर्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नये रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता है। १४वीं शताब्दी से पूर्व के साहित्य ने कोई नई प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का ज्ञान।" इस काल का हिन्दी साहित्य उर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से ही साहित्य बड़ा होता है।

द्विवेदीजी ने इस युग के साहित्य को वास्तविक लोकसाहित्य की संज्ञा दी है तथा इस युग के प्रारम्भ से ही वास्तविक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ माना है। उन्होंने लिखा है—"इस प्रकार १५वीं शताब्दी के बाद सचमुच का लोकभाषा का साहित्य बना। भाषा इसकी वास्तविक और सच्ची है, शैली सहज और प्रसन्न। लोक-प्रचलित काव्यरूपों के साथ जीवन के बड़े लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आ गई। उसके छन्दों में किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोझ नहीं है और भाषा तथा भाव के अनाडम्बर महिमा को वहन

करने में वह पूर्ण समर्थ है। यहाँ से मात्रिक छन्दों का अबाध प्रवेश होता है। यहाँ से हिन्दी कविता ने अपने असली छन्दों को पहचाना। संभवतः लोक में इन्हीं छन्दों का अधिक प्रचार था।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत की समीक्षा :—द्विवेदी जी ने भक्तिकाल से हिन्दी साहित्य का वास्तविक आरंभ माना है। अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"सच पूछा जाय तो यहीं से हिन्दी साहित्य का वास्तविक सूत्रपात हुआ। इसके पहले के ४०० वर्षों का साहित्य अपभ्रंश की रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था, ह्रासोन्मुखी कविता के कवि समयों और काव्यरूढ़ियों से ग्रस्त था, गतानुगतिक ढंग के पिटे-पिटाये बँधी-सँधी बोलियों के बोलने का अभ्यस्त था। उसमें पुरानी प्रथा के अंधानुकरण की जरठ मनोवृत्ति का प्राधान्य था।"

द्विवेदीजी का उपर्युक्त मत सर्वमान्य नहीं है। यह सत्य है कि भक्तिकाल के प्रारम्भ होने तक हिन्दी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव था, लेकिन अपभ्रंश के कुछ शब्द रहने के कारण ही हम उस साहित्य को वास्तविक हिन्दी साहित्य की श्रेणी से नहीं निकाल सकते। ऐसे ढूँढ़ने से तो सूर और तुलसी में भी कुछ अपभ्रंश के शब्द मिल जायँगे। दूसरी बात कविता के छन्द के संबंध की है। यह सत्य है कि भक्ति-काल के पहले हिन्दी कविता पिटे-पिटाये छन्दों में बँधी चली आ रही थी। फिर भी उन पुराने छन्दों में इतनी विविधता थी कि भक्तिकाल तथा रीतिकाल के सभी कवियों ने कुछ हेर-फेरे के साथ उन्हीं छन्दों में अपने विशाल साहित्य की रचना की।

इन सब दृष्टियों से देखने पर यह नहीं माना जा सकता कि हिन्दी के वास्तविक साहित्य का प्रारम्भ भक्तिकाल से हुआ, बल्कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था के साहित्य से ही हम हिन्दी के वास्तविक साहित्य का प्रारम्भ मानेंगे।

भक्तिकाल के साहित्य की शाखाएँ :—भक्तिकाल में ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों पर अलग-अलग साहित्य की रचना हुई।

इसलिये विद्वानों ने भक्तिसाहित्य को, निर्गुण धारा तथा सगुण धारा नामक दो मुख्य भेदों में बाँटा है। निर्गुण धारा में दो शाखाएँ हैं—ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा। इसी प्रकार सगुण धारा में भी दो शाखाएँ हैं—रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा। उपर्युक्त विभाजन को इस प्रकार भी समझा जा सकता है :—

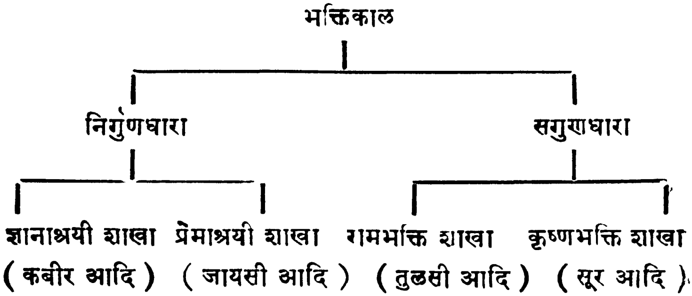

प्रकरण—५

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

भक्तियुग के साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योगसाधना को लेकर तथा उसमें सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना-क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण के खंडन में उसी जोश के साथ पैगम्बरी मत, बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन में रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक नहीं हैं, क्योंकि इस शाखा के संतों का उद्देश्य साहित्य-रचना नहीं था। इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर अधिक नहीं पड़ा। क्योंकि उनके लिए इस पंथ में न तो कोई नई बात थी और न कोई नया आकर्षण था। किन्तु अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बहुत उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने उन्हें ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पश्चिमी विद्वानों ने इसी बात को ध्यान में रखकर इन्हें 'धर्म-सुधारक'' की उपाधि दी है।

निर्गुण पंथ :—निर्गुण पंथ के प्रवर्त्तक कबीर माने जाते हैं, लेकिन इसके लिए पथप्रशस्थ करनेवालों में नाथ-पंथी जोगियों तथा नामदेव का बहुत हाथ था। भक्ति-आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिये सामान्य भक्तिमार्ग की भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदय-पक्ष-शून्य सामान्य अन्तर-साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथपंथी कर चुके थे। भेद-भाव को निर्दिष्ट करनेवाले उपासना के बाहरी विद्वानों को

अलग रखकर, उन्होंने अन्तर-साधना पर जोर दिया था, किन्तु नाथ-पंथियों की अन्तरसाधना हृदय-पक्ष-शून्य थी, उसमें प्रेम-तत्त्व का अभाव था। अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया।

नामदेव.—नाथ-पंथ के योगियों के बाद निर्गुण पंथ के मार्ग-दर्शकों में महाराष्ट्र के भक्त नामदेव का नाम आता है। ये कबीर के पूर्ववर्त्ती निर्गुण भाव के साधक थे। इनका जन्म महाराष्ट्र के सतारा जिले के नरसीबैनी गाँव में १२६७ ई० में हुआ। कहते हैं कि ये जाति के छीपी थे। इनके गुरू संत विसोवा खेचर थे और संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी भक्ति थी। कुछ विद्वानों के अनुसार ज्ञानेश्वर ही नाम-देव के गुरू थे। इनके भजन मराठी और हिन्दी दोनों में उपलब्ध हैं। हिन्दी-भजन 'गुरूग्रन्थ साहब' में संगृहीत हैं। इन भजनों की संख्या ६० से अधिक है। इनमें उनके प्रेम-निर्भर सहज अकपट हृदय का बहुत अच्छा प्रकाशन हुआ है। शुक्लजी ने इनका समय संवत् १३२८ से १४०८ तक माना है।

निर्गुण पंथ और कबीर :—यों तो निर्गुण पंथ की बहुत कुछ रूपरेखा नाथपंथी योगियों तथा नामदेव के द्वारा तैयार हो चुकी थी। किन्तु 'निर्गुण पंथ' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे, जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी का शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किये। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद लिया। इसी से उनके तथा निर्गुणवादवाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम-तत्त्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम उन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य

भक्ति-पद्धति का प्रचार था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेद-भाव का परिहार हो। बहुदेवोपासना अवतार और मूर्ति-पूजा का विरोध ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी, नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदवाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू-ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य-विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेद-भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

कबीर

जन्म :—कबीर के जन्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। शुक्लजी ने एक जनश्रुति की चर्चा करते हुए लिखा है—"कहते हैं काशी में स्वामी रामानंद का भक्त एक ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामीजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ।"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "काशी में किसी सद्यो-धर्मान्तरित जुलाहा जाति में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। प्रसिद्ध है कि ये किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। माता ने सामाजिक भय से काशी के लहरतारा तालाब के पास इन्हें फेंक दिया था, वहीं नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने इन्हें प्राप्त किया और पाल-पोस कर बड़ा किया। यह प्रसिद्धि कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। पर निर्विवाद बात यह है कि ये काशी के जुलाहा जाति में पालित और बर्धित हुए थे।

कबीर के जन्मकाल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय का मत है :—

"चौदह सौ पचपन साल गये चन्द्रवार एक ठाढ़ ठए ॥
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रकट भए ॥"

अर्थात् उनका जन्म सं० १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ, किन्तु गणना से ज्येष्ठ पूर्णिमा को इस वर्ष सोमवार नहीं पड़ता, १४५६ में पड़ता है। इसलिए विद्वानों का मत है कि कबीर का जन्म सं० १४५६ अर्थात् १३९९ ई० में हुआ था। शुक्लजी ने भी यही लिखा है।

गुरू :—जनश्रुति है कि अँधेरे में गंगा तट पर सोए हुए कबीर के शरीर पर रामानंदजी के खड़ाऊँ पड़ गये थे और वे राम-राम कह उठे थे। वहीं कबीर ने उन्हें अपना गुरु मान लिया। रामानंद से कबीर की दीक्षा लेने की यही कहानी है। किन्तु कबीर के मुसलमान शिष्य बताते हैं कि उन्होंने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेखतकी से दीक्षा ली थी। कबीर के पदों मे शेखतकी का नाम आया है। किन्तु उसमें उस प्रकार की श्रद्धा नहीं है जो किसी गुरु के लिए अपेक्षित है। जैसे—

घट-घट है अविनासी,
सुनहु तकी तुम शेख।

किन्तु जहाँ रामानन्द का नाम लिया है, वहाँ बड़ी श्रद्धा झलकती है—

सतगुरु के परताप ते, मिटि गए सब दुख द्वंन्द।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानंद ॥

इससे स्पष्ट है कि कबीर के गुरू रामानंद ही थे और उन्हीं से उनको राममंत्र मिला था। शुक्लजी ने (पृ० ७६) लिखा है—"ऊजी के पीर तथा शेखतकी चाहे कबीर के गुरू न रहे हों, पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत बातें सीखीं। इसमें कोई सन्देह नहीं। × × कबीर ने मुसलमान फकीरों का सत्संग किया था। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि स्थानों में गये थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे।

किन्तु सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वाभावानुसार वे किसी को ज्ञानी या बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे। सबको अपना वचन मानने को ही कहते थे—

"शेख अकरदीं सुकरदीं तुम मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार।"

विशेषता :—कबीर की विशेषता के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य (पृ. १२०) में लिखा है—

"१५वीं शताब्दी में कबीर सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे। कितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान की नृसिंहावतार की मानों प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह के समान नाना असंभव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलन-विन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकश्यप ने वर माँग लिया था कि उसको मारनेवाला न मनुष्य हो, न पशु हो; मारे जाने का समय न दिन हो न रात हो, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश; मार सकनेवाला हथियार, न धातु का हो न पाषाण का इत्यादि। इसलिए उसे मार सकना एक असंभव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के मिलन-विन्दु को चुना। असंभव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन-विन्दु भगवान को अभिष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-विन्दु पर खड़े थे जहाँ एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ

एक ओर से निर्गुण भावना निकल आती है दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा मे गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई पड़ते थे।"

कबीर की उपासना-पद्धति :—इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'रामनाम' रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ, पर आगे चलकर कबीर के राम रामानंद के राम से भिन्न हो गए। अतः कबीर को शुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं ले सकते। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी धाराओं को आत्मसात् कर चुके थे, लेकिन इससे उनके रामानंद के शिष्य होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धाराएँ इस प्रकार हैं—(१) उत्तरपूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप। (२) पश्छिम का सूफी मतवाद और (३) दक्षिण का वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म।

कबीर के दोहे, पद यहाँ तक कि उलटवाँसिया, नाथपंथियों और सहजयान के साधकों के ढंग पर हैं। कहीं-कहीं तो हूबहू वही बात रख दी गई है। दूसरी धारा अर्थात् सूफी मतवाद का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेममूलक रूपक रचनाओं पर है। अधिकांशतः कबीर तीसरी धारा अर्थात् दक्षिण का वेदांतभावित वैष्णव धर्म से ही अधिक परिचालित होते हुए दीखते हैं।

कबीर ने दूर-दूर तक देशाटन किया, हठयोगियों तथा सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया। अतः उनकी प्रकृति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। अद्वैतवाद के स्थूलरूप का कुछ ज्ञान उन्हें रामानन्दजी के सत्संग से पहले ही था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रहकर ब्रह्म के पर्याय बन गये।

दशरथ सुत तिहुलोक बखाना।
राम नाम का भरम है आना॥

शुक्लजी ने लिखा है—"जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार-पद्धति में ज्ञान मार्ग का निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी वाणी मे ये सब अवयव लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की वाणी निर्गुण वाणी कहलाती है, पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं रह सकता। सेना सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसीलिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म सत्ता का संकेत मिलता है, कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है तो कहीं सोपाधि ईश्वर की।

सारांश यह है कि कबीर में ज्ञान मार्ग की जहाँ तक बातें है वे सब हिन्दू शास्त्रों की हैं, जिनका संचय उन्होंने रामानन्दजी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्वमसि, आठ मैथुन (अष्ट मैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ। उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों को जैसे चन्द, सूर, नाद, विन्दु, अमृत, औंधा कुआँ को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूर्ण आतंक जमाते हैं।

सूर समान चन्द में, दहूँ किया घर एक।
मन का चिन्ता तब मिटा, कछू पुरविला लेख॥
आकासे मुख औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हँसा, पीवै बिरला आहि विचार॥

उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय से अहिंसा का तत्व ग्रहण किया, जो बाद में सूफी फकीरों ने भी मान लिया। हिंसा के लिए हिन्दू-मुसलमानों को हमेशा फटकारते रहे।

"दिन को रोजा रहत है, राति हनत है गाय"

फिर "बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है, ताको कौन हवाल॥"

ग्रन्थ :—वैसे तो कबीर के नाम पर चलनेवाली पुस्तकों की संख्या कई दर्जनों तक पहुँचती है, परन्तु इनमें अधिकांश वस्तुतः कबीर की नहीं हैं। यह बता सकना कठिन भी है कि कौन-सी रचना उनकी अपनी है और कौन प्रक्षेप। तीन मूलों से प्राप्त रचनाओं के बारे में प्रामाणिकता का दावा किया गया है। एक तो ना० प्र० द्वारा सम्पादित "कबीर ग्रन्थावली", जो श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित है। उसकी आधारभूत प्रति के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कबीर की मृत्यु से १५ वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी। किन्तु 'कबीर' नामक ग्रंथ में द्विवेदीजी ने इस दावा को गलत प्रमाणित किया है। फिर संवत् १६६१ में संकलित "गुरुग्रंथ साहब" मे कबीर की वाणियाँ संकलित हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने कबीर की उन वाणियों का अलग संकलन किया है। सम्भवतः कबीर के छन्दों का सबसे पुराना संकलन यही है। किन्तु 'ग्रन्थसाहब' में भी कभी-कभी दूसरे सन्तों के नाम से वही पद मिल गये हैं, जो कबीर के नाम से संगृहीत हैं। इससे यह सन्देह होता है कि आदि ग्रंथ में संकलित पदों की प्रामाणिकता भी उतनी विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से इसका सम्मान है।

तीसरा संग्रह कबीर पंथी सम्प्रदाय में समादृत बीजक है। यह सम्प्रदाय में सबसे अधिक मान्य ग्रन्थ है। बीजक के तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, सबद और साखी। बीजक के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि कबीरदास ने स्वयं इस ग्रंथ को अपने शिष्यों—जगजीवन दास और भगवानदास को दिया था। बीजक पर पूरनदास की लिखी

तिज्यां टीका १८६२ में प्रकाशित हुई थी और दूसरी रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव की टीका जो प्रथम बार बनारस में छपी थी।

रमैनी :—बीजक का महत्वपूर्ण अंश रमैनियाँ हैं। इनमें साधारणतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक दोहा संकलित किया गया है। इनमें से कुछ रमैनियाँ आदि ग्रन्थ में भी मिल जाते हैं, किन्तु वहाँ वे पद रमैनी नहीं कहे गये हैं। अतः यह अनुमान करने में कोई बाधा नहीं कि रमैनी—शब्द का प्रचलन बाद में हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि दोहा-चौपाइयों में लिखी गई तुलसीदास की रामायण के प्रभाव ने कबीरपंथियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई. की १८वीं शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई में लिखित पदों को 'रमैनी' कहा जाने लगा।

साखी :—कबीर की रचनाओं में साखी और सबद अर्थात् दोहे और पद पर्याप्त पुराने हैं। साखी शब्द का अर्थ है साक्षी अर्थात् ये वाक्य मानो गुरु के उपदेशों का प्रत्यक्ष रूप है। बौद्ध-सिद्ध कण्हपा ने 'साखि करब जालंधर पाएँ" वाले पद मे गुरु को साथी बनाने की बात कही है। जान पड़ता है आगे चलकर गुरु के उपदेशों को ही गुरु की साखी समझा जाने लगा। ग्रन्थ साहब में कबीर की साखियों को सलोक या श्लोक कहा गया है। सामुदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं। इसकी भाषा सधुक्कड़ी है अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली हुई खड़ी बोली है।

सबद :—शब्द वस्तुतः गेय पद हैं। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। बौद्ध और नाथ सिद्धों ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागों में पद लिखे थे। कबीर दास के पद उसी परम्परा के हैं। इनकी भाषा व्रजभाषा है जिसमें कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी प्रयोग है।

कबीर की मृत्यु संवत् १५७५ में मगहर में हुई जहाँ इनकी समाधि अबतक बनी हुई है।

कबीर के सम्प्रदाय का साहित्य :—निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा

जा सकता कि कबीर सम्प्रदाय का संघठन कब आरम्भ हुआ। कहा जाता है कि कबीर की मृत्यु के पश्चात् जब कबीर के पुत्र कमाल से सम्प्रदाय की स्थापना के लिए कहा गया तो उसने अस्वीकार करते हुए कहा था कि ऐसा करने में "आध्यात्मिक गुरु हत्या करने का पाप लगेगा।" कहते हैं कि इसी अपराध के कारण शिष्यों मे यह उक्ति प्रचलित हुई कि "बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।" आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल के विरोध करने पर भी सुरतगोपाल और धर्मदास को आश्रय करके कबीर का सम्प्रदाय गठित होकर ही रहा। कबीरपंथ की इस समय मुख्य शाखाएँ हैं—कबीरचौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढ़वाली। दोनों की परम्पराएँ उपलब्ध हैं। दोनों का इरादा है कि उनके संस्थापक कबीर के साक्षात् शिष्य थे।

रैदास:—रामानंद के शिष्य थे। जाति के चमार थे। इनकी कोई पूरी पुस्तक उपलब्ध नहीं है; किन्तु इनकी फुटकल वाणियाँ प्राप्त हुई हैं। ये अपनी जाति का व्यवसाय करते हुए भगवद्भजन में लीन रहा करते थे।

रैदास का सम्बन्ध मीरा बाई से भी बताया जाता है। मीरा बाई ने बड़ी भक्ति के साथ अपने भजनों मे इनका नाम लिया है।

रैदास के भजनों मे अत्यंत शांत और निरीह भक्त हृदय का परिचय मिलता है। अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्संदेह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।

तू मोहि देखै हौं, तोहि देखौ, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै, तोहि न देखौं, यदि मति बुधि सब खोई॥

साधो का एक सम्प्रदाय जो फर्रुखाबाद और थोड़ा बहुत मिर्जापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परम्परा मे कहा जाता है। रैदास के बाद रामानंद के सम्प्रदाय के भक्तों में सधना, सेना, पीपा, धना आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दादूदयाल—(१५४४ ई० से १६०३ ई०)

जन्म—अहमदाबाद। (पर वहाँ कोई स्मारक नहीं।)

जाति—कुछ लोग ब्राह्मण और कुछ लोग धुनियाँ बताते हैं। पं० सुधाकर द्विवेदी ने मोची वंशोत्पन्न माना था; किन्तु अधिक लोग धुनियाँ ही मानते हैं।

बंगाल के बाउल संतों में प्रसिद्ध 'दादू वंदना' के एक पद के आधार पर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अनुमान किया है कि इनका नाम दाऊद था जो बाद में चलकर दादू हो गया। इनकी वाणियों में कबीर का नाम भक्ति के साथ लिया गया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के अनुयायी थे। किन्तु इनके सम्प्रदाय में यह विश्वास प्रचलित है कि ये ब्राह्मण थे तथा ११ वर्ष की अवस्था में एक अज्ञात संत ने इन्हें दीक्षा दी, जिसका नाम बृद्धानंद बताया जाता है। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने साँभर में ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। इनके दो पुत्र—गरीब दास और मिसकीनदास थे।

सन् १८५४ ई० में कहते हैं कि सम्राट् अकबर ने दादू को फतहपुर सीकरी मे बुलाकर ४० दिनों तक सत्संग किया था।

दादू की वाणियों का संग्रह संतदास और जगनदास ने 'हरड़े बानी' नाम देकर किया था। फिर रज्जबजी ने 'अंगबंधु' नाम देकर इसे नए सिरे से सम्पादित किया। दादू की दूसरी रचना का नाम 'कायाबिलि' है, जो ना० प्र० स० से प्रकाशित है।

दादू की वाणी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते-जुलते दोहों में है। कहीं-कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली-जुली पश्चिमी हिंदी है और राजस्थानी का मेल भी है। दादू की वाणी में यद्यपि उक्ति का चमत्कार कबीर के समान नहीं है, किन्तु प्रेम-भाव का निरूपण अधिक सरस और गम्भीर है।

घीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है, मथि काढ़ै ते ओर॥

सं० १६६० में दादू की मृत्यु नराना (जयपुर) में हुई। निर्गुण पंथियों के समान दादू-पंथी लोग अपने को निरञ्जन निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग न तिलक लगाते हैं, न कंठी पहनते हैं। हाथ में सुमिरनी रखते हैं और सत्तराम कहकर अभिवादन करते हैं।

दादू तुलसी के समकालीन थे। उनकी उक्तियों में बहुत कुछ कबीरदास की छाया है। फिर भी वे वही नहीं थे जो कबीरदास थे। उनके स्वभाव मे कबीर के मस्तानेपन के बदले विनयमिश्रित मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना संबंधी मिथ्याचार पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते थे। कबीर की भाँति दादू ने भी कहीं-कहीं रूपकों का आश्रय लिया है, पर अधिक नहीं। इनके पदों में जहाँ निर्गुण निराकार निरंजन को व्यक्तिगत भगवान के रूप में उपलब्ध किया गया है, वहाँ वे कवित्त के उत्तम उदाहरण हो गए हैं। भगवत्प्रेम का इन्होंने इतना सुंदर चित्र उपस्थित किया है कि बरबस सूफी कवियों की याद आ जाती है।

इनकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी से मिली परिमार्जित हिंदी है तथापि उसमें गजब का जोर है। भाषा में किसी काव्य गुण का आरोप नहीं किया गया। छंदों का नियम प्रायः भंग होता रहता है फिर भी अपने स्वाभाविक वेग के कारण अत्यंत प्रभावजनक है। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था और दादू का नम्रता से मुलायम। कबीर के लिए उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि उन्हें अपने रास्ते के बहुत से झाड़-झंखाड़ साफ करने थे। दादू को मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उसमें उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्य-जनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य मिले।

दादू के शिष्य :—दादू के १५८ मुख्य शिष्य बताए जाते हैं। उनके पुत्र गरीबदास भी उन्हीं शिष्यों में थे। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से

दादू के शिष्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय तीन ही हैं। रज्जन जी, जगन्नाथ जी और सुन्ददास जी।

रज्जन :—रज्जन दादू के शिष्यों में सबसे अधिक बड़ा व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है तथा कथित शास्त्रीय काव्य-गुण का उसमें अभाव है। फिर भी आश्चर्यजनक काव्य-प्रौढ़ता, बेगवत्ता और स्वाभाविकता है। गूढ़ से गूढ़ तत्वपूर्ण बात को भी छोटे-छोटे दोहे में कह जाने की अद्‌भुत् क्षमता रज्जन में थी।

सुन्दर दास :—(जन्म संवत् १६५३, मृ. संवत् १७४६) दादू के शिष्यों में सुंदर दास सबसे अधिक शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न महात्मा थे। बहुत छोटी उम्र में वे दादू के शिष्य बने थे। बाद में काशी में आकर शास्त्राभ्यास किया था। यही कारण है कि शास्त्रीय ढंग के एकमात्र निर्गुण कवि माने जाते हैं। इनकी कविता के वाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से निर्दोष हो सके थे, पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविकता, जो इस जाति के संतों की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गयी।

अलंकारों से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सुंदर दास एकमात्र ऐसे निर्गुणिया साधक थे जिन्होंने सुशिक्षित होने के कारण लोक-धर्म की उपेक्षा की है, लेकिन यह भ्रम है।

इनके छोटे-छोटे अनेक ग्रंथ हैं, पर 'सुंदर विलास' सबसे प्रसिद्ध है। इन्होंने सम्पूर्ण देश का पर्यटन किया था। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आधार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं। मारवाड़ पर "वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देश है याद।" दक्षिण पर-"रौंधत प्याज बिगारत नाज न आवत लाज करैं सब भच्छन।" पूरब देश पर "बाम्हन छत्रिय बैसरु सुंदर चारोई बर्न के मच्छ बघारत।"

"सिख गुरुओं का साहित्य"*

मध्ययुग के जिन महात्माओं ने भारतीय धर्म-साधना और समाज व्यवस्था को गम्भीर भाव से प्रभावित किया है, उनमें गुरु नानकदेव का स्थान प्रमुख है। जन्म संवत् १५२६, स्थान—पंजाब के राईमोई के तलबंडी नामक ग्राम में, जो अब ननकाना साहेब कहलाता है और पाकिस्तान में पड़ गया है। इनकी मृत्यु—संवत् १५९५ में हुई।

नानक सिख-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक हैं। सिख-सम्प्रदाय का महत्व हिंदी साहित्य में दो कारणों से है—प्रथम, इस सम्प्रदाय के दसों गुरुओं ने केवल स्वयं भक्ति-भाव के भजन लिखे हैं, बल्कि सम्प्रदाय के अन्य भक्तों को भी इस प्रकार की साहित्य-सेवा के लिए प्रोत्साहित किया है। आत्मबल और चारित्र्य शुद्धि की प्रेरणा देनेवाले साहित्य की सर्जना करके इन गुरुओं ने हिंदी को अमूल्य निधि दी है। दूसरा कारण यह है कि जब दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने गुरुपरम्परा समाप्त की तो उन्होंने उसके स्थान पर गुरुग्रंथ साहब को प्रतिष्ठित किया। इसमें दसों गुरुओं की वाणियाँ तो संगृहीत हैं ही, नानक के पूर्ववर्ती अन्य संतों की वाणियाँ भी संग्रहीत हैं। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के गुरुओं ने अपने प्राचीन संतों की वाणियाँ हमें दी हैं। गुरुग्रंथ साहब केवल धर्म-साधकों के लिए ही परम निधि नहीं, वह हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी अपूर्व रत्न-भंडार हैं।

इसमें नानक की वाणियाँ भी हैं। गुरु नानक की अन्य रचनाओं—जपुजी, आसादी पार रहिरास और सोहिला का भी संग्रह है। इनके भजनों में निरीह भक्ति—निर्भर का जीवन प्रतिफलित हुआ है। विचारों में इनका मत कबीर आदि निर्गुणिया संतों के मत से मिलता-जुलता है, किन्तु इनमें कबीर का अक्खड़पन नहीं है। विनय और

---

* डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी-साहित्य' के आधार पर लिखा गया है।

मृदुता में इनकी तुलना रैदास से की जा सकती है। यदि इनके भक्तों की त्याग-भावना, दुःख बर्दाश्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्‌भुत प्रेरणा-दायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी हैं वैसी मध्ययुग के किसी अन्य संत की वाणियों ने नहीं। इतिहास साक्षी है कि सिख भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है, फाँसी पर लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की पीड़ाएँ दी जा सकती हैं, सब दी गई हैं, फिर भी भक्तों ने निराशा और पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के भीतर इतना अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त होनेवाला साहस प्राप्त हो सकता है, उसकी महिमा निस्संदेह अतुलनीय है। भाषा का सरलपन तथा भावों का निश्छलपन भी मोहक है।

नानक के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के गुरुग्रंथ साहब में अन्य कवियों के भी नाम हैं जिनमें—शेख फरीद, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह मुख्य हैं।

फुटकल कवियों में मलूकदास और अक्षर अनन्य का विशेष सम्मान है।

संतमत के सामान्य तत्व

शुक्लजी ने लिखा है—"निर्गुण पंथ के संतों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उनपर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा। उनमें जो थोड़ा-बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवों की न्यूनता या अधिकता के कारण, जिनका मेल करके निर्गुण पंथ चला है। जैसे, किसी में वेदांत के ज्ञानतत्व का अवयव अधिक मिलेगा. किसी में व्यावहारिक ईश्वरभक्ति (कर्त्ता, पिता प्रभु की भावना से युक्त) निर्गुण पंथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञान-पक्ष है, वह वेदांत से लिया

हुआ है, जो प्रेमतत्व है वह सूफियों का है। अहिंसा और प्रपत्ति के अतिरिक्त वैष्णत्व का कोई अंश उसमें नहीं है, उसमें सुरति और निरति शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। बौद्धधर्म के अष्टांग-मार्ग के अंतिम मार्ग है—सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि। सम्यक स्मृति वह दशा है जिसमें क्षण-क्षण पर मिटने वाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी शृंखला बँध जाती है। समाधि में साधक सब संवेदनों से परे हो जाता है।

संतमत के पतन का कारण

डा० द्विवेदी ने लिखा है—"जो संतकाव्य जगत के समस्त आडम्बरों को ध्वस्त करके सरल भगवत्प्रेम का पथ प्रशस्त करने का व्रत लेकर चला था, वह अन्त तक साम्प्रदायिक प्रतिद्वंद्विता, निरर्थक प्रहेलिका, क्रीड़ा और व्यर्थ के शब्द-जाल का शिकार हो गया। उसकी क्रांतिकारी भावना समाप्त हो गई। जिन लोगों ने माया को ललकारने का साहस किया था, उनके अनुयायी माया के घरौंदों में बन्द हो गये। कबीर, दादू और नानक की रचनाओं में जो ताजगी थी, वह १८वीं शताब्दी तक आते-आते समाप्त हो गई। यहाँ आकर सन्तों का क्रांतिकारी साहित्य केवल निरर्थक रूढ़ियों और भाराक्रांत पदावलियों का भूलभूलैया भर रह जाता है।

रूढ़ियों के प्रबल विरोधी कबीर ने पीर, पैगम्बर, औलिया आदि के भजन-पूजन का निषेध किया था; किन्तु बाद में उसी की पूजा चल पड़ी। जिस महापुरुष ने संस्कृत को कूप-जल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था, उसी की स्तुति में आगे चलकर संस्कृत में अनेक स्तोत्र लिखे गए। जिसने बाह्याचारों के जंजाल को भस्म कर डालने के लिये अग्नि-तुल्य वाणियाँ कहीं, उसकी उन्हीं वाणियों से नाना बाह्याचारों की क्रियाएँ सम्पन्न की जाने लगीं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है। कबीरोपासना पद्धति में सोने से लेकर रास्ते चलने तक के मन्त्र हैं।

प्रश्न यह है कि वह कौन-सी वस्तु है जो अनुयायियों को अपने

गुरु के उपदेशों के प्रतिकूल चलने में बाध्य करती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अनुयायी जान-बूझकर अपने गुरु के वचनों की करते हैं। वस्तुतः अनुयायी धर्म गुरु की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही बहुधा गलत मार्ग ग्रहण करते हैं।

जब कभी किसी महापुरुष के नाम पर सम्प्रदाय चल पड़ता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान ही होते हैं, ऐसी बात नहीं, फिर भी सम्प्रदाय स्थापना का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहनेवाली स्वाधीन चिंता कम हो जाती है।

घर जोड़ने की माया बहुत प्रबल है और संसार का विरला कोई उसका शिकार होने से बच सकता है। जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है। पंथ की प्रतिष्ठा के लिए पैसा चाहिये।

१८वीं शताब्दी के बाद के सन्त-साहित्य में पूर्ववर्त्ती सन्तों की अग्नि-गर्भा वाणियों की अपव्याख्या की गई है। वहाँ मनोनुकूल अर्थ निकालने की प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। जिसके कारण वानी मात्र बुझौवल बनकर रह गई है।

———

प्रकरण—६

प्रेममार्गी सूफी शाखा

प्रेम-कथानकों का साहित्य

निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है, जिन्होंने प्रेम-गाथाओं के रूप में उस प्रेम-तत्व का वर्णन किया है जो ईश्वर से मिलानेवाला है, तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के पहले लोकभाषा में प्रेम-कथानकों का ऐसा साहित्य काफी अधिक संख्या में लिखा गया था, जिसके कथा-अंश का आधार लोक-प्रचलित कथानक थे। कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के चरित्र से जुड़े होते और कभी इनके चरित-नायक बिल्कुल कल्पित हुआ करते थे। तुलसी ने इन्ही चरित-काव्यों की ओर संकेत करते हुए कहा था—

कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

ऐसी लोक-कथाओं का सबसे बड़ा संग्रह पैशाची में लिखी गई, गुणाढय कवि की 'बृहत् कथा' थी जो मूल रूप में अब प्राप्त नहीं है। इन लोक-कथाओं की सर्वप्रियता का प्रमाण यही है कि ये प्राचीनकाल से ही घर-घर में प्रचलित थीं।

भारतवर्ष के सूफी कवियों ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये इन कहानियों का उपयोग किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह भारत के लिये कोई नई बात नहीं थी—"प्राचीन काल में भी लोक-प्रचलित कहानियों का धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। महाभारत और पुराणों में, जातक-कथाओं में तथा बौद्धों

के (अपदान) साहित्य में जैन कवियों द्वारा लिखित चरित-काव्यों में इस पद्धति का पूरा उपयोग किया गया है। यदि सूफी कवियों ने भी इस पद्धति को अपनाया तो यह कोई नई बात नहीं थी।"

प्रेम-कथाओं पर आश्रित काव्य तीन श्रेणियों के प्राप्त हुए हैं—

(१) आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये लिखे गये काव्य।

(२) विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य।

(३) अर्द्ध ऐतिहासिक प्रेम-गाथाएँ।

प्रथम श्रेणी में मुख्य रूप से सूफी कवियों की लिखी गई प्रेम-कहानियाँ आती हैं। किन्तु सूफियों के अतिरिक्त अन्य भक्त-कवियों ने भी इस शैली को थोड़ा-बहुत अपनाया है।

प्रेम-मार्गी सूफी कवियों की प्रेम-गाथाएँ वास्तव में साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। शुक्लजी ने लिखा है—"इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेमतत्व का आभास दिया जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम-कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है, अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के आलौकिल सौन्दर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घर-बार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अन्त मे उस राजकुमारी को प्राप्त करना; पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।"

शुक्लजी ने इन सूफी कवियों को अपनी आलोचना में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। कभी-कभी तो शुक्लजी की प्रशंसा इतनी अतिशयोक्ति पूर्ण हो गई है कि आज के "आलोचक" और विद्वान् उससे प्रायः चिढ़ से जाते हैं। शुक्लजी की इस प्रशंसा के पीछे कुछ रहस्य है। पहला तो यह कि इन सूफी कवियों ने मुसलमान होकर भी हिन्दुओं के घर की कहानियाँ लीं। दूसरा यह कि अरबी-फारसी के विद्वान् होते हुए भी इन

लोगों ने हिन्दी में पुस्तकों की रचना की। तीसरा यह कि इन लोगों ने महाकाव्यों की रचना की। चौथा यह कि इन लोगों ने हृदय-कथा के आधार पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को मिलाने का प्रयास किया। इन्हीं कारणों से शुक्लजी ने सूफियों की बड़ी प्रशंसा की है।

सूफियों का आगमन इस देश में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२वीं शताब्दी) के समय से माना जाता है। सूफियों के चार सम्प्रदाय—चिश्ती, सोहरावर्दी, क़ादरी, नकसबंदी इस देश में आये हैं। इन लोगों का सादा जीवन, उच्च विचार और प्रेम का तत्ववाद भारत के धर्म-जिज्ञासुओं को धीरे-धीरे आकृष्ट करने लगा। इस श्रेणी का सबसे प्रथम काव्य अल्लाउद्दीन खिल्जी के राज्य-काल के मुल्ला दाऊद नामक किसी सूफी संत का 'चन्द्रावत' या 'चन्द्रावती' नामक बताया जाता है।

कुतुबन—दूसरे सूफी कवि हैं। शुक्लजी ने इन्हें चिश्ती वंश के शेख बुरहान का शिष्य माना है और द्विवेदीजी ने बुड्ढन का। शायद बुरहान और बुड्ढन एक ही व्यक्ति है। कुतुबन जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। इन्होंने मृगावती नाम की एक प्रेम-कथा चौपाई-दोहे के क्रम में सं० १५५८ में लिखी, जिसमें चन्द्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमणी की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। चन्द्रगिरि का राजकुमार कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती पर मोहित होता है। अनेक कष्ट-सहन करने के बाद वह उस राजकुमारी तक पहुँचता है; किन्तु एक दिन वह धोका देकर उड़ जाती है। राजकुमार योगी बनकर निकल पड़ता है। राह में रुक्मिणी नामक एक सुन्दरी की रक्षा एक राक्षस के हाथ से करता है। उसके पिता उससे विवाह कर देते हैं। अंत में वह मृगावती के राज्य में पहुँचता है, जहाँ पिता की मृत्यु के बाद स्वयं मृगावती रानी बनी हुई है। १२ वर्ष वहाँ रहने के बाद मृगावती के साथ अपने राज्य में लौट आता है। राह में रुक्मिणी को भी साथ ले

लेता है। बहुत दिनों तक आनन्दपूर्वक राज्य करने के बाद आखेट में हाथी से गिरकर मर जाता है। दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं।

इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेम-मार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच-बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है (२६५) "दो बातें इस कहानी में विशेष ध्यान देने की हैं। एक तो पुरुष का एकांतिक प्रेम और प्रिया को प्राप्त करने के लिये कठिन साधना। दूसरा प्रिया को धोका देकर उड़ जाना और दूसरे देश में जाकर राज्य-शासन करना। इस प्रकार की कथानक रूढ़ियाँ इस देश में नई ही हैं। प्रिय पात्र में ऐश्वर्य, बुद्धि और कठिन साधना के द्वारा ही उसकी प्राप्ति तथा माधुर्य भाव के द्वारा ऐश्वर्य भाव का पराभव, ये सूफियों के आध्यात्मिक आदर्श हैं। यहाँ प्रिय भगवान का प्रतीक है और धोखा देकर उड़ जाना उसके प्रेम की सच्चाई की परीक्षा है। सूफी कवियों ने सदा प्रेमी को अनेक विघ्नों में से निकालकर नायिका तक पहुँचाया है। लौकिक पक्ष में यह प्रेम को एकांतिकता का सूचक है। पारलौकिक पक्ष मे साधना की महानता का।"

मंझन—मंझन के सम्बन्ध में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। केवल "मधुमालती" नामक काव्य की एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है जो मंझन की लिखी हुई है। शुक्लजी ने इसके रचना-काल के संबंध में लिखा है कि "इसकी रचना संवत् १५५० और १५६५ के बीच में और बहुत संभव है, मृगावती के कुछ पीछे हुई।" हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी रचना सन् १५४५ ई० मे मानी है। उन्होने लिखा है, (२६६) पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती कवि माना है, लेकिन मंझन कवि ने 'शाहे वक्त' के वर्णन के प्रसंग में जिस सलेमशाह का वर्णन किया है वह यदि शेरशाह का पुत्र हो तो यह रचना बाद की होगी, क्योंकि शेरशाह सन् १५४५ ई० में मरा और उसके बाद ही

वह गद्दी पर बैठा। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी मंझन को जायसी का परवर्ती माना है।

मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम रखा गया है। मृगावती की अपेक्षा उसकी कल्पना अधिक विशद् तथा वर्णन अधिक विस्तृत और हृदय-ग्राही है। आध्यात्मिक प्रेम-भाव की व्यंजना के लिये प्रकृति के भी अधिक दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लम्बी है।

मधुमालती की कहानी यद्यपि सम्पूर्ण रूप में भारतीय वातावरण लेकर ही आती है तथापि कुछ ऐसी काव्य रूढ़ियों का प्रयोग है कि भारतीय कथानक साहित्य में अल्प परिचित है। इसकी अप्सराएँ राजकुमार को उड़ाकर मधुमालती की चित्रसारी में ले जाती हैं और वहीं से दोनों के प्रेम का प्रारम्भ होता है। भारतीय साहित्य में उषा और अनिरुद्ध की कहानी में भी इसी तरह की बात है। किन्तु यह भी बाणासुर असुरराज की कन्या की कथा है, जिसकी कथानक शैली को विद्वान् भारतीय की अपेक्षा असीरियन शैली कहना अधिक उचित समझते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी असीरिया काव्य शैलियाँ और कुछ रूढ़ियाँ ईरानी साहित्य में ग्रहीत हो गई थीं और फारसी कवियों के माध्यम से मध्ययुग में भारत में भी आने लगी थीं। मृगावती के समान ही इस मधुमालती में भी उड़नेवाली कथानक रूढ़ि का व्यवहार हुआ है।

इस काव्य में भी समासोक्ति पद्धति से भगवान की ओर संकेत है। इसमें मधुमालती के रूप के बहाने समस्त प्रकृति में प्रयास व्यापक रूप की ओर संकेत किया गया है। जो अपने को सम्पूर्ण रूप से खो देता है, वही उसको कुछ-कुछ देख पाता है।

"सूफियों के अनुसार यह सारा जगत एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-मूल में बँधा है जिसका अवलम्बन करके जीव उस मूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान

संपत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नहीं खुल सकतीं। जिसके हृदय में यह विरह होता है, उसके लिये संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रगट कर रहे हैं।"

अपने युग में मृगावती और मधुमालती की बड़ी ख्याति थी। जैन कवि बनारसीदास (१७वीं शताब्दी) ने अपने आत्मचरित "अर्ध-कथानक" में लिखा है कि मधुमालती और मृगावती पढ़ने का उन्हें ऐसा चसका लगा था कि दुकान का सब काम-काज छोड़कर घर में ही बैठे रहते थे।

अब घर में बैठे रहे नाहिन हाट बाजार।
मधुमालती मृगावती पोथी दोउ उचार॥

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी सूफी कवियों के सबसे श्रेष्ठ माने गये हैं। ये कहीं बाहर से आकर जायस में बस गये थे। इनकी प्रसिद्ध रचना पद्मावत है। "अखरावट" और "आखिरी कलाम" नामक दो और रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं। भगवान ने इन्हें रूप देने में बड़ी कंजूसी की थी। किन्तु शुद्ध, निर्मल और प्रेम-परायण हृदय देने में बड़ी उदारता से काम लिया। इनके जन्म-समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'आखिरी-कलाम' में उन्होंने अपना जन्म हिजरी सन् की नवीं शताब्दी में बताया है।

"भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥"

इन पंक्तियों का ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। इनकी मृत्यु सन् १५४२ ई० में बताई जाती है। पद्मावत का रचनाकाल इन्होने ६२७

अर्थात् सन् १५२१ ई० लिखा है और यह भी बताया है कि उस समय शेरशाह दिल्ली के सुलतान थे।

सन् नौ सौ सत्ताइस अहा, कथा अरंभ बैन कवि कहा।
शेरशाह दिल्ली सुलतानू, चारहु खंड तपै जस भानू॥

ये दोनों बातें परस्पर मेल नहीं खातीं, क्योंकि शेरशाह १५४० ई० से १५४५ ई० तक (हिजरी ६४७–६५२) दिल्ली के सिंहासन पर था। विद्वानों का अनुमान है कि कवि ने कुछ पद तो १५२० ई० में ही बनाया होगा। १६–२० वर्षों के बाद उसे पूरा किया होगा। पद्मावत की अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी अक्षरों में मिली हैं, जिनमें सत्ताइस और सैंतालिस प्रायः एक ही तरह लिखे जाएँगे। इसमें कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि सैंतालिस को लोगों ने भूल से सत्ताइस पढ़ लिया है।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। जीवन के अन्तिम दिनों में जायसी अमेठी से दो मील दूर एक जंगल में रहते थे। वहीं उनकी मृत्यु हुई। काजी नसरूद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजा उदौला से सनद मिली थी, अपनी याददास्त में जायसी का मृत्युकाल ६४६ हिजरी अर्थात् १५४२ ई० लिखा है। यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।

जायसी काने और कुरूप थे। कहते हैं शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था। इसपर ये बोले—"मोहिका हँसेसि कि को हरहि ?" इनकी तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी-कलाम। अखरावट में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त सम्बन्धी तत्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव आदि विषय पर विचार प्रकट किए गये हैं। आखिरी कलाम में कयामत या प्रलयों का वर्णन है। जायसी की अजय कीर्ति का आधार है, 'पद्मावत' जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है

कि जायसी का हृदय कितना कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ है। क्या लोक पक्ष में, क्या आध्यात्म पक्ष में, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरलता विलक्षण दिखाई पड़ती है।

शुक्लजी ने कबीर और जायसी की तुलना करते हुए लिखा है:— "कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का भी प्रयत्न किया। वह अधिक चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय का स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा, जिसका मनुष्य मात्र के हृदय में एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय अपने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों मे इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का हृदय सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूर्ण हुई।

पद्मावत की कहानी:—अर्ध-ऐतिहासिक। पूर्व भाग काल्पनिक और उत्तर भाग कुछ अंशों में ऐतिहासिक। पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबन्ध काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी शैली पर है, फिर भी इसमें शृंगार, वीर आदि का वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार है। पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं-कहीं उस अनन्त सौन्दर्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े सुन्दर ढंग से संकेत किया है। इसी प्रकार

योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों की व्यंजना की है।"

जायसी का रहस्यवाद :—जायसी को लोग रहस्यवादी कवि मानते हैं। सूफियों का रहस्यवाद अद्वैत भावना पर आश्रित है। रहस्य-वादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलने के लिए व्याकुल रहता है। जिस प्रकार मेघ और समुद्र के पानी में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं है। फिर भी मेघ का पानी नदी का रूप धारण करके समुद्र के पानी में मिल जाने को आतुर रहता है। उसी श्रेणी की आतुरता भक्त में भी होती है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम-कथानकों की प्रेमिका को भगवान का प्रतीक माना है। जायसी भी सूफियों की इस भक्तिभावना के अनु-सार अपने काव्य में परमात्मा को प्रिया के रूप में देखते हैं और जगत के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भासित बताते हैं। उनके काव्य में प्रकृति अपने परमप्रिय के समागम के लिए उत्कंठित और व्याकुल पाई जाती है।

रूपवर्णन की विशेषता :—ऐसे तो पद्मावत में रूप वर्णन नख-शिख की प्रणाली पर है, किन्तु रूप-सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की गई है। जायसी ने इस रूप को पारस रूप कहा है। पारस रूप अर्थात् जिसके स्पर्श से इस जगत के रूप में अद्भुत माधुर्य आ जाता है। अल्लाउद्दीन ने भी पद्मावती के उस पारसरूप की झलक दर्पण मे प्राप्त की थी, परन्तु उतने ही से उसे जान पड़ा कि पृथ्वी और आकाश सभी सोना हो गए हैं। रूप-वर्णन-प्रसंग में जायसी अन्योक्तियों पर भी उतर आये हैं।

वस्तु-वर्णन के प्रसंग में कवि ने प्रायः इस प्रकार की विशेषताओं का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त में उद्भासित हो सके। इसी को समासोक्ति-पद्धति कहा जाने लगा है। परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह

जायसी में इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगों को मानो खोजते फिरते हैं जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके।

जायसी मानव-भावों का चित्रण बड़ी निपुणता से कर लेते हैं, किन्तु पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का चित्रण नहीं हो पाता। उनका आदर्श चित्रण एकदेशीय है। रतनसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का। किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों के पड़ने पर इनका कौन-सा रूप निखरेगा, यह स्पष्ट नहीं हो सका। कविता एक सामान्यीकरण का प्रयास है।

उसमान :—पुस्तक चित्रावली। ये गाजीपुर के रहनेवाले और जहाँगीर के समकालीन थे। चित्रावली की रचना सन् १६१३ ई० के आसपास हुई। इस काव्य में नेपाल के राजा धरणीधर के पुत्र सुजान-कुमार और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेम-कथा वर्णित है। इसमें चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम की पुरानी भारतीय कथानक रूढ़ि का ही प्रयोग है और सभी बातें सूफियों की शैली पर हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त जान कवि, कासिम शाह आदि अनेक और सूफी कवि हुए हैं।

———

प्रकरण—७

सगुणमार्गी धारा

सगुणमार्गी धारा में कृष्णभक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा के साहित्य आते हैं।

कृष्णभक्ति का साहित्य

कृष्णलीला-गान की परम्परा :—यह सत्य है कि आचार्य वल्लभ के द्वारा कृष्णभक्ति के साहित्य को नया आदर्श और प्रेरणाशक्ति प्राप्त हुई, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कृष्णभक्ति की परम्परा या कृष्ण की लीलाओं के गान की परम्परा पहले कुछ थी ही नहीं। श्रीकृष्ण-कथा दीर्घकाल से उत्तर भारत में प्रचलित थी। वल्लभ ने केवल उसमें नई शक्ति का संचार किया।

सर्वप्रथम भागवत् महापुराण में लीलागान की विस्तृत परम्परा मिलती है। बाद में चलकर भागवत् से अलग भी कृष्णलीला गान की शास्त्रीय परम्परा प्रचलित हुई थी। यह बात जयदेव के गीत-गोविन्द को देखने से स्पष्ट हो जाती है। गीत-गोविन्द पूर्ण रूप से भागवत् परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। उसमें राधा प्रमुख गोपी है जो भागवत् में कोई अपरिचित गोपी है। गीत-गोविंद का रास बसन्त है जबकि भागवत् का शरद् रास है।

इन बातों पर ध्यान देने से इतना स्पष्ट हो जाता है कि लीला के पद बहुत पहले से ही लिखे जाने लगे थे। उसके प्रारम्भ का निश्चित समय निर्धारित करना कठिन है, किन्तु १०वीं ११वीं शताब्दी में

मात्रिक छंदों के गेय पदों में कृष्णलीला-गान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी। प्रमाणस्वरूप हम निम्नलिखित कवियों की रचनाओं को ग्रहण कर सकते हैं :—

क्षेमेन्द्र :— क्षेमेन्द्र ११वीं शताब्दी के काश्मीर प्रान्त के कवि थे। उन्होंने 'दशावतार चरितम्' में लिखा है कि जब कृष्ण ब्रज से मथुरा चले गए तो वियोगलिप्त हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगीं। उस गान को कवि ने मात्रिक छंद में लिखा है। अनुमान किया जाता है कि क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार के गान अपने आसपास सुने थे और अपने गान में उन्होंने उन्हीं लौकिक गीतों का अनुकरण किया है।

"ललित विलास कला सुख खेलन—
ललना लोभन शोभन यौवन—
मानित नव मदने।
अलिकुल कोकिल कुवलय कज्जल
काल कलिन्द सुताविव लज्जल
कालिय कुल दमने!"
आदि—

इस गान से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के सुदूर काश्मीर में भी। अतः यह मानना होगा कि सूरसागर किसी दीर्घ काल से चली आती हुई पुरानी परम्परा का विकास है।

जयदेव :—१२वीं शताब्दी के कवि हैं। गीत-गोविंद को इन्होंने मात्रिक छंद के गेय पदों में लिखा है। इनका जन्म बंगाल के वीरभूमि नामक जिले के केन्दुलि (केन्द्र विल्व) ग्राम में हुआ था। इधर कुछ उड़िया विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनकी जन्मभूमि उड़ीसा में ही थी। जो भी हो, इतना सत्य है कि उनकी साधना-भूमि जगन्नाथपुरी ही थी।

गीत-गोविंद के गान यद्यपि गीतिकाव्यात्मक (Lyrical) हैं, किंतु कवि ने उसे प्रबन्ध काव्य के रूप में ही सजाया है। सूरदास आदि ब्रजभाषा के कवियों ने भी बहुत कुछ इसी पद्धति को अपनाया है। पंडितों ने अनुमान किया है कि उन दिनों उड़ीसा में इसी प्रकार के गान लोकभाषा में प्रचलित रहे होंगे। उन्हीं के अनुसरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होंगे। बौद्ध-सिद्धों के गेयपद इतना तो सूचित करते ही हैं कि पूर्वी भारत में गेयपदों का साहित्य बहुत पहले से रचित होने लगा था।

चंद का दशम—पृथ्वीराज रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है। मूलग्रंथ से यह लगभग स्वतन्त्र ही है। वर्तमान रासो में इसका दशम नाम अब भी सुरक्षित है। यह चाहे चन्द की हो या अन्य किसी कवि की, इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह लीलाकाव्य का उत्तम निदर्शन है। यदि रासो का दशम १२वीं शताब्दी की रचना है तो पश्चिम भारत की लीलावाले साहित्य का सुन्दर परिचय देता है। नेमेन्द्र के काव्य के साथ मिलाकर देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि श्रीकृष्णलीला विषयक काव्य और गेय पद दोनों ही की परम्परा पश्चिम भारत में एकदम अपरिचित नहीं थी। सूरदास के साहित्य में वह एकाएक नहीं प्रकट हुई।

चंडीदास और विद्यापति :—बंगाल के कवि चंडीदास तथा मिथिला के कवि विद्यापति दोनों कृष्णलीला-गान-परम्परा के कवि हैं। जयदेव के बाद लोकभाषा में गेयपदों का कृष्णलीला-परक साहित्य इन्हीं दो कवियों ने लिखा। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्री कृष्णलीला से संबद्ध गेयपद के साहित्य की उत्सभूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह प्रथा पश्चिमी भारत में आई है। बौद्ध-सिद्धों के गान, गीत गोविंद, चंडीदास और विद्यापति के पद सभी इस प्रकार के विश्वास को बल देते हैं।

सूरदास

सूरदास के जीवन के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि न तो इन्होंने अपने सम्बन्ध में स्वयं विस्तारपूर्वक कुछ लिखा है और न इनके समकालीन विद्वानों ने ही इनकी जीवनी पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। जो कुछ सामग्री इनके जीवन के विषय में प्राप्त है, वह यों है—

अन्तः साक्ष्य :—'साहित्य लहरी' सूर की रचना है। उसमें सूर ने अपना वंश-परिचय दिया है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता संदिग्ध है, इस कारण सूर की इस वंशावली पर विद्वान लोग विश्वास नहीं करते। वंश-वृक्ष यों है—

ब्रह्मराव जगात
|
गुणचंद
|
शीलचंद
|
वीरचंद
|
हरचंद
|
सूरजचंद

यह सूरजचन्द ही सूरदास हैं। साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में एक पद है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख।

इसका अर्थ विद्वानों ने संवत् १६०७ लगाया है। मुनि—७, रसन—०, रस—६ और गौरीनंदन—१। संवत् संख्या बताने में अंक

विपर्यय हो जाता है। इस कारण 'साहित्य लहरी' का रचना-काल सं० १६०७ है।

'सूर सारावली' के अनुसार सूरदास की आयु उस समय ६७ वर्ष की थी—'गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन।'

'साहित्य लहरी' से यह भी ज्ञात होता है कि सूर के गुरु वल्लभाचार्य थे—'श्री गुरुवल्लभ तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।'

बहिर्साक्ष्य :—चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता के अनुसार सूरदास का जन्म रुनकता या रेणुका-क्षेत्र में हुआ था। ये मथुरा और वृन्दावन के बीच गऊ घाट पर रहते थे। वहीं वल्लभाचार्य से इनकी भेंट हुई थी। सूर ने वल्लभ के कहने पर दो भजन गाए—"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ' और "हौं हरि सब पतिनन कौ नायक।" वल्लभ ने भजन सुनने के बाद कहा—"सुर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करि।" किन्तु सूरदास को भगवत् लीला का कुछ ज्ञान नहीं था। वहीं वल्लभाचार्य ने सूर को अपना शिष्य बनाया और भागवत दशम स्कंध की कथा सुनाई। वहीं से सूर को वल्लभाचार्य की संगति प्राप्त हुई थी।

'भावप्रकाश' के अनुसार सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में हुआ था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे तथा जन्मांध थे। शेख अबुलफजल ने 'आइन अकबरी' में (सं० १६५३) सूरदास को अकबर के संगीतज्ञों में स्थान दिया है तथा 'मुंतखबुत्तवारीख' में भी अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में सूरदास का नाम आया है; किन्तु यह कोई अन्य सूरदास रहा होगा।

उपर्युक्त साक्ष्यों तथा अन्य जनश्रुतियों के आधार पर सूरदास के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं जो अधिक विद्वानों को मान्य भी हैं—

सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक गरीब सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में ये आगरा और मथुरा के बीच गऊ घाट पर रहने लगे थे। वहीं वल्लभाचार्य से इनकी भेंट हुई और वे उनके

शिष्य बने। फिर उन्हीं के साथ वे वृन्दावन चले गये और गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मन्दिर में रहने लगे। इनकी मृत्यु पारसोली नामक ग्राम में हुई जो गोवर्धन पर्वत के निकट ही है। उनकी मृत्यु के समय वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ वहाँ वर्तमान थे।

'साहित्य लहरी' के आधार पर ये ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं, किन्तु 'भाव-प्रकाश' के लेखक गोस्वामी हरिराय तथा गोस्वामी यदुनाथ दोनों ने ही इन्हें सारस्वत ब्राह्मण माना है। यही सभी विद्वानों को भी मान्य है।

अनेक प्रकार से विचार करने पर सूरदास का जन्म सं० १५३५ के सन्निकट ठहरता है। वल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ श्री वैशाख कृष्ण एकादशी को हुआ था। अतः सूरदास की जन्म तिथि वैशाख कृष्ण पंचमी सं० १५३५ ही उचित जान पड़ती है। उनकी मृत्यु विद्वान लोग अनेक प्रमाणों के आधार पर सं० १६२० और सं० १६४८ के बीच मानते हैं। शुक्लजी ने सूरदास का जन्म सं० १५४० के आसपास और मृत्यु सं० १६२० के आसपास माना है।

अंधत्व :—श्रीनाथ भट्ट की संस्कृतवार्ता मणिमाला, श्री हरिराय के 'भावप्रकाश', श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि साक्ष्यों के आधार पर सूरदास जन्मांध ठहरते हैं। मुंशीराम शर्मा ने भी इन्हें दिव्य दृष्टि सम्पन्न जन्मान्ध माना है। किन्तु राधा-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का सजीव चित्रण, विभिन्न रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों को देखकर अधिकांश आधुनिक विद्वान सूर की जन्मांधता पर विश्वास नहीं करते। श्यामसुंदरदास ने लिखा है—"सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि श्रृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता।" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अंधा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए। यह

मानसिक ग्लानि की अवस्था में कही हुई बात है जिसमें अपनी हीनता को अतिरंजित करने की प्रवृत्ति काम करती रहती है।"

रचनाएँ :—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण-तालिका में सूरदास के १६ ग्रंथों का उल्लेख है, जिनमें सूरसागर, सूरसागावली, साहित्यलहरी के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत, गोवर्द्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, ब्याहलो, नलदमयन्ती आदि ग्रंथ भी सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्वपूर्ण हैं। उनमें भी साहित्य लहरी में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

सूरसागर :— यह सूर का प्रधान ग्रथ है। यह भागवत की कथा के आधार पर रचित है। इसके प्रथम ६ अध्याय संक्षिप्त हैं; किन्तु दशम स्कंध का बहुत अधिक विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की ही प्रधानता है। इसके दो प्रसंग बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं—कृष्ण की बाल-लीला और भ्रमरगीत। सूरसागर की प्रशंसा करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौंदर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौंदर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुलमिल गया है।"

बाल-लीला :—सूर के द्वारा कृष्ण की बाललीला का जो चित्रण हुआ है, वह अनुपम है। विश्व-साहित्य में बाल-चेष्टाओं का इतना सुन्दर निरूपण अन्यत्र शायद ही हो। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"संसार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है। परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बाल कृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय

देता है। न उसे शब्दों की कमी हाती है, न अलंकार की, न भावों की, न भाषा की। × × × अपने आपको मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाल-लीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाये हुए हैं।"

शुक्लजी ने बाललीला की प्रशंसा में लिखा है—"गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।"

स्पर्द्धा का चित्र:—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी!
कितिक बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

क्षोभ: —

खेलत में को काको गोसैयाँ!
जाति पाँति हमतें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ!
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछू गैयाँ।

बालरूप :—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरून चलत रेनुतन मंडित, मुखदधि लेप किए।

इस तरह के असंख्य चित्र सूरसागर में भरे पड़े हैं।

भ्रमर गीत :—शुक्लजी के शब्दों मे "सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमर गीत' है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। ऐसा सुन्दर उपालम्भ काव्य और कहीं नहीं मिलता।" भ्रमर गीत विरह-काव्य है। इसमें विरह की सभी दशाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्रण है। इसमें प्रेम-दशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों द्वारा होती

है। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनंद-छटा अपने बंद नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरह-सागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता।

इस भ्रमरगीत का महत्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्त-शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्कपद्धति पर नहीं—किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाये हैं जिसमें संवाद में बहुत रोचकता आ गई है।

सूर की राधा :—सूर की राधा, सूर का अपना भक्त-हृदय है। राधा का प्रेम—सूर के भक्त-हृदय का प्रेम है। यह प्रेम अपना उपमान आपही है। राधिका विशुद्ध गीति काव्यात्मक पात्र है। भागवत में राधा का नाम तक नहीं है। राधा का सर्वप्रथम नाम 'गोपालतापनी उपनिषद्' में मिलता है। शुद्धाद्वैत के प्रचारक विष्णुस्वामी ने राधा की महत्ता को स्वीकार किया था। वल्लभाचार्य ने राधाचरित्र को विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत से लिया था। अतः सूर की राधा का आधार वल्लभ का 'पुष्टिमार्ग' है। परन्तु सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा की जो प्रतिष्ठा हुई वह वल्लभ स्वामी द्वारा नहीं हुई थी।

जयदेव के गीत-गोविन्द से प्रभावित होकर हिन्दी में सर्वप्रथम कृष्णकाव्य की रचना विद्यापति ने की। विद्यापति ने कथा का प्रारम्भ राधा की वयःसन्धि से किया है जबकि सूर ने बाल्यकाल से। विद्यापति की राधा कृष्ण की प्रेयसी है, चण्डी दास की राधा परकीया नायिका, किन्तु सूर की राधा कृष्ण की सहचरी और पत्नी है। राधिका और कृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्व-राग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते हैं। मिलन के समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शांत और गम्भीर हो जाती है। वास्तव में सूरदास की राधा प्रारम्भ से अंत तक एक सरल बालिका है। उसके प्रेम में विद्यापति

की राधा के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी नहीं है और न चंडीदास की राधा के समान पद-पद पर सास-ननद का डर ही है। उद्धव ने भी कृष्ण से राधा की जिस विरहिनी मूर्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल सकता है।

सूर का कवित्व और वैशिष्ट्य :—डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है।" सूर यद्यपि शिक्षित नहीं थे तथापि उनमें काव्य-प्रतिभा नैसर्गिक थी जो भक्ति के उद्रेक से खिल पड़ती थी। उनकी कविता में ब्रजभाषा का प्रयोग अपने अकृत्रिम रूप में हुआ है तथा भावों का नियोजन भी सरल, स्वाभाविक एवं सर्वत्र मौलिक रूप में हुआ है। सूरसागर में सभी रसों का समावेश है। मानव-प्रकृति और मानवेतर प्रकृति दोनों का अद्भुत वर्णन सूर ने किया है। माँ के रूप में यशोदा का चित्रण अनुपम है।

सूर की नवीन प्रसंगोद्भावना की क्षमता भी अपूर्व है। सूर ने एक न्यारे प्रेम-लोक की छटा अपने बंद नेत्रों से देखी है। शुक्लजी ने लिखा है—"यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा।"

कृष्णदास :—ये वल्लभ के शिष्य तथा 'अष्टछाप' के कवियों में एक थे। ये शूद्र थे, किन्तु अपनी योग्यता से श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए थे। इनकी कूट बुद्धि और दुर्लभ शासन की अनेक कहानियाँ "चौरासी वैष्णव की वार्त्ता" में मिलती हैं। ये एक नवीन कुएँ का निर्माण कराते समय उसका निरीक्षण करने गये थे कि अचानक उसमें गिर कर मर गये। जुगलभान-चरित्र नामक इनका

एक छोटा-सा ग्रन्थ मिलता है इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रन्थ और कहे जाते हैं, भ्रमर गीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण।

कुम्भनदास :—ये भी वल्लभ के शिष्य और 'अष्टछाप' के एक कवि थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्य्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें शूद्र और आठ पुत्रों का पिता माना है। एक बार अकबर के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सीकरी जाना पड़ा। ये पैदल ही गए और श्रीनाथ जी का दर्शन न कर सकने के कारण व्याकुल होकर तुरन्त लौट आए। इन्होंने लिखा है—

सन्तनं को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गए हरिनाम॥
जिनकौ मुख देखै दुख उपजत, तिनको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु, और सर्व बेकाम॥

परमानन्द दास :—वल्लभाचार्य के शिष्यों में ये भी एक थे और 'अष्टछाप' के कवियों में इनकी भी गणना हुई थी। ये अच्छे कवि थे। कहा गया है कि एक बार इनका रचा हुआ पद सुनकर वल्लभाचार्य कई दिनों तक बेसुध रहे। ये संवत् १६०६ के आस-पास वर्त्तमान थे। ये कन्नौज के रहनेवाले थे। भाषा-लालित्य तथा भाव-निश्छलता की दृष्टि से इनके पद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके ८३५ पद 'परमानन्द सागर' में संगृहीत हैं। कहते हैं कि इन्होंने भी लक्षावधि पदों की रचना की थी।

नन्द दास :—ये वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ के प्रधान शिष्यों में से थे। इनकी गणना भी 'अष्टछाप' के कवियों में हुई है। 'भक्तमाल' में इनके सम्बन्ध में लिखे गये छप्पय में जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं है। केवल इतना है—

चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम-पथ में पगे।

इससे सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चन्द्रहास था, किन्तु 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में नन्द को तुलसीदास का भाई

बताया गया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"इधर जिन पुस्तकों के प्रचारित होने से सोरों को तुलसीदास की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त हो रहा है, उनके अनुसार ये तुलसीदास के चचेरे और चन्द्रहास के सगे भाई थे।"

वार्त्ता साहित्य में नन्ददास के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ वर्णित हैं, जैसे—द्वारका जाते समय सिन्धुनद ग्राम की एक खत्रानी पर आसक्त होना, उसका पीछा करना फिर बिट्ठलनाथ के उपदेश से मोह-मुक्त होना आदि। अपनी कई पुस्तकों में इन्होंने लिखा है कि किसी परम रसिक मित्र की आज्ञा से उन ग्रन्थों की रचना की। इस परम मित्र को खोज निकालने के लिये लोगों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उल्लेख है कि अकबर के साथ एक हिन्दू राजा की लड़की ब्याही गई थी जिसका नाम रूप मंजरी था। वह अकबर का स्पर्श नहीं करती थी, अकबर केवल देखकर ही संतुष्ट रहता था। वह एक उच्चकोटि की भक्त महिला थी। वह नित्य नन्ददास से मिला करती थी। कुछ लोगों का अनुमान है 'रूपमंजरी' नामक पुस्तक की मुख्य नायिका यही है, जिसकी रचना नन्द ने की है और इसी के आग्रह से नन्द ने अन्य ग्रंथों की भी रचना की है।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद काव्य-कला की दृष्टि से नंददास का ही नाम आता है। ये एक उच्चकोटि के कवि थे। इनके सम्बन्ध में कहावत है—"और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया।" इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'रासपंचाध्यायी' है जिसकी रचना रोला छंद में हुई है। इसके अतिरिक्त, रुक्मिणी मंगल, सिद्धांत पंचाध्यायी, रूप मंजरी, रस मंजरी, मान मंजरी, विरह मंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थ नाममाला, ज्ञानमंजरी, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थ मंजरी, श्याम-सगाई, भ्रमरगीत और सुदामा चरित इनकी लिखी पुस्तकें हैं। दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य)।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नन्ददास के सम्बन्ध में लिखा है—(हि० सा०, पृ० १६०)—"निस्सन्देह नंददास बहुत उच्चकोटि के भावुक भक्त थे, परन्तु सूरदास की भाँति सहज कवित्व से ही संतुष्ट नहीं होते थे। उन्होंने भक्ति-सिद्धांतों का अध्ययन और मनन किया था। उनकी रचनाओं में विद्याध्ययन जन्य ग्रंथिलता वर्तमान है। उनकी भाषा प्रौढ़ और मार्जित है, विचार-पद्धति शास्त्रीय और पुष्टि-मार्ग-सम्मत है। सूरदास की गोपियों में जिस प्रकार का अशिक्षित पटुत्व और सारल्यगर्भमाधुर्य पाया जाता है वैसा नन्ददास की गोपियों में नहीं पाया जाता। भ्रमरगीत में उद्धव के तर्कों को सुनकर वे शिथिलवाक् होकर परास्त नहीं हो जातीं, बल्कि आगे बढ़कर उत्तर देती हैं और तर्क को तर्क से काटने का प्रयत्न करती हैं।"

सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही आश्रय लिया है, किन्तु नंद ने अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत-पद-विन्यास आदि की ओर भी प्रवृत्ति दिखाई है। इनकी भाषा में हमें अधिक सचेष्टता दिखाई पड़ती है।

चतुर्भुज दास :—ये कुंभन दास के पुत्र तथा विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। अष्टछाप के कवियों में इनका भी स्थान है। इनके तीन ग्रंथ हैं—द्वादश यश, भक्ति प्रताप, हितजू को मंगल। कुछ फुटकल पदों के संग्रह भी हैं। इनकी भाषा और कविता सामान्य स्तर की है।

छीत स्वामी :—ये मथुरा के सुसंपन्न पंडा थे। महाराज बीरबल जैसे व्यक्ति इनके यजमान थे। पहले ये बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने के बाद विनम्र और शान्त हो गए। इनका कोई ग्रंथ नहीं, केवल फुटकल पद पाये जाते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त व्रजप्रेम का अच्छा वर्णन मिलता है। 'हे विधना तोसों अचरा पसारि माँगौं जनम-जनम दीजो याही व्रज बसिवो' पद इन्हीं का है।

गोविंद स्वामी :—ये अंतरी के निवासी और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर वृन्दावन चले आए थे और वहीं रहने लगे थे। ये विट्ठलनाथ के शिष्य और अष्टछाप के कवि थे। ये कवि होने के अतिरिक्त अच्छे गायक भी थे। इनके गान की ख्याति सुनकर स्वयं तानसेन भी इनके निकट गान सुनने आया करते थे। इनके भी केवल फुटकल पद प्राप्त हैं।

'अष्टछाप' से बाहर के कृष्णभक्त कवि

हित हरिवंश :—इनका जन्म सं० १५५९ में मथुरा से चार मील दक्षिण बाद गाँव में हुआ। किंतु इनके सम्प्रदाय के पंडित गोपाल प्रसाद शर्मा ने इनका जन्म संवत् १५३० माना है। हित हरिवंश गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। कहते हैं कि पहले ये मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे फिर भी बाद में इन्होंने अपना 'राधा वल्लभी' सम्प्रदाय चलाया। इन्होंने संवत् १५८२ में श्री राधा वल्लभजी की मूर्ति वृंदावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १७० श्लोक की 'राधा सुधानिधि' आप ही की रचना है। इनके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ८४ पद हैं। इनके द्वारा ब्रजभाषा की काव्य-श्री के प्रसार में बड़ी सहायता मिली है। इनके अनेक शिष्य बहुत अच्छे कवि हुए हैं। अनन्य भक्ति और मधुर पद-बंध दोनों ही दृष्टियों से हित हरिवंश जी ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं।

गदाधर भट्ट :—ये दक्षिण के भक्त ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। ये चैतन्य के शिष्य थे। संस्कृत के पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुन्दर है। गोस्वामी

तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता भी की है।

मीरा बाई :—मीरा के जन्म-काल, सगे-सम्बन्धी तथा जीवन के तथ्यों के विषय में बहुत मतभेद है।

प्रियादास ने भक्तमाल की टीका 'भक्ति रसबोधिनी' (सं० १७६६) में लिखा है कि मीरा की जन्मभूमि मेड़ता थी। नागरीदास ने (विक्रम वीं शताब्दी का मध्य) अपनी रचनाओं में मीरा के सम्बन्ध में लिखा है कि मेड़ते की मीरा बाई का विवाह राणा के छोटे भाई के साथ हुआ था। कर्नल टाड ने 'एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ आफ राजस्थान' में मीरा का विवाह राणा कुम्भा से लिखा है। पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में लिखा है कि महाराणा साँगा के जेठे पुत्र भोजराज का विवाह मेड़ते के राव वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की पुत्री मीराबाई के साथ सं० १५७३ में हुआ था।

कर्नल टाड एवं उन्हीं के अनुकरण पर जिन लोगों ने मीरा को कुम्भा की स्त्री लिखा है, वे दन्त-कथाओं के आधार पर भूल कर गए हैं। सबसे पहले विलियम क्रुक ने संकेत किया था कि मीराबाई वस्तुतः राणा कुम्भा की स्त्री नहीं थीं, बल्कि राणा सांगा के पुत्र भोजराज की स्त्री थीं।

मीरा का विवाह सं० १५७३ में हुआ था। उस समय उनकी अवस्था छोटी थी। यदि उस समय उनकी आयु १३-१४ वर्ष मानें तो मीरा का जन्मकाल सं० १५५९ और १५६० के बीच माना जा सकता है। मीरा की मृत्यु सं० १६०३ के लगभग हुई।

मीरा आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थी। विवाह के कुछ ही दिनों के बाद इनके पति की मृत्यु हो गई। ये प्रायः मंदिरों में जाकर भगवान श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के सामने नाचा-गाया करती थीं। इस कारण लोक-निंदा के भय से इनके स्वजन इनसे प्रायः रुष्ट रहा करते थे। इन्हें तरह-तरह के कष्ट दिए जाते थे। कई बार विष देने

का प्रयत्न भी किया गया, किन्तु ईश्वर की कृपा से इन पर विष का कोई प्रभाव नहीं हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में घूमकर भजन सुनाया करती थीं। सब जगह इनका मान देवी के समान होता था। प्रसिद्ध है कि एक बार इन्होंने गोस्वामी को भी एक पद बनाकर लिखा था, जिसमें अपने सम्बन्ध में राय पूछी गई थी। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका का 'जाके प्रिय न राम वैदेही' पद लिखकर भेज दिया था; किन्तु यह घटना अप्रमाणिक है।

मीरा शैशव से ही भक्ति-भावना से पूर्ण थीं। ये कृष्ण की मूर्त्ति लेकर खेला करती थीं। विवाहोपरान्त भी ये कृष्ण की मूर्त्ति अपने साथ लेती गई थीं। इनकी माँ का देहान्त शैशव ही में हो गया था। किशोरावस्था प्राप्त होते-होते पिता, चाचा एवं श्वसुर स्वर्गीय हो गए। विवाह के तीन ही वर्ष बाद पति का भी निधन हो गया। देवर से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं मिली। इसलिए कृष्ण को छोड़कर मीरा के लिए संसार में अपना और कोई नहीं था।

मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की थी। वे कृष्ण को अपना पति मानती थीं। जब परिवार के लोग मीरा को पुरुषों के बीच जाने से रोकते थे तो मीरा कहती थीं कि इस संसार में कृष्ण को छोड़कर दूसरा पुरुष ही कौन है ? वे कृष्ण के रूप की दीवानी थीं। मीरा का गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, मलूकदास आदि भक्तों ने किया है।

मीरा के कुछ पद तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ पद विशुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा में हैं। मीरा कोई जन्मजात या अभ्यासी कवियित्री नहीं थीं। भक्ति के उद्रेक ने उन्हें कवियित्री बना दिया था। इनके सभी पद गेय हैं, जिनमें अनेक राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। मीरा के पूर्व गीतिकाव्य की रचना संस्कृत के कवि जयदेव, मिथिला के कवि विद्यापति तथा संतकवि कबीर ने की थी। किन्तु इन सबसे मीरा की विरह-गीतियों में अधिक स्वाभाविकता है। मीरा की रचना में

दो रस पाए जाते हैं—शृंगार और शान्त। शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष का चित्रण अत्यन्त मार्मिक हुआ है। इसमें अपनी ही विरह-दशा का वर्णन होने के कारण, स्वानुभूति ने अभिव्यक्ति को अत्यन्त मार्मिक और तीव्र बना दिया है। माधुर्य और प्रसाद गुण की अनुपम योजना मीरा के पदों में हुई है। मीरा के पदों में कहीं-कहीं कबीर आदि निर्गुण सन्तों की साधना का भी आभास मिलता है; किन्तु वहाँ भी निर्गुण ब्रह्म से मीरा का तात्पर्य कृष्ण से ही है, जैसे कबीर के पदों के 'राम' का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है।

स्वामी हरिदास :—ये निवार्कमातांतर्गत टट्टी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये बहुत बड़े भक्त, संगीतज्ञ और गायक थे। तानसेन गुरु के समान इनका सम्मान करता था। इनका कविता-काल, शुक्ल जी के अनुसार संवत् १६०० से १६१० तक ठहरता है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनके पदों के कुछ संग्रह 'हरिदास के ग्रंथ', 'स्वामी हरिदास के पद', 'हरिदास की बानी' आदि नामों से मिलते हैं।

श्रीभट्ट :—इनका कविता-काल संवत् १६२५ के आसपास माना जाता है। इनके गुरु निंवार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी थे। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा में है। 'युगलशतक' तथा 'आदि बानी' नामक इनके दो ग्रंथ मिलते हैं।

व्यासजी :—इनका नाम हरिराम व्यास था। इनका कविता-काल संवत् १६२० के आसपास माना गया है। ये बुंदेलखंड के लोकप्रिय कवि हो गए हैं। ये ओरछा-नरेश मधुकर शाह के राज-गुरु थे। पहले ये वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, किन्तु बाद में हित हरिवंश जी के शिष्य हो गए थे। ये संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। सूरसागर का 'रास पंचाध्यायी' इन्हीं की रचना है, जिसे लोगों ने भूल से उसमें मिला दिया है।

रसखान :—ये दिल्ली के रहनेवाले पठान सरदार थे। इन्होंने अपने को 'बादशाहवंश' का बताया है। "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में इनके आरंभिक यौवन-काल की कुत्सित प्रेम-भावना का उल्लेख है। कहते हैं चार महात्माओं के सतसंग से इनकी गलत ढंग की प्रेम-वासना भगवद्भक्ति में बदल गई। इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेमवाटिका और सुजान रसखान। 'प्रेम-वाटिका' की रचना दोहे में है और 'सुजान रसखान' की कवित्त-सवैये में। इनकी भाषा बहुत चलती, सरल और शब्दाडंबर मुक्त होती थी। सहज आत्मसमर्पण, अखंड विश्वास और अनन्यनिष्ठा की दृष्टि से रस-खान की रचनाओं की तुलना कम ही भक्त कवियों से की जा सकती है। ये विट्ठलनाथजी के प्रिय शिष्य थे। इनका कविता-काल सं० १६४० के बाद माना गया है। प्रेम-वाटिका की रचना इन्होंने संवत् १६७१ में।

ध्रुवदास :—इनका जन्म १६वीं शताब्दी के अंत में हुआ। कहा गया है कि ये स्वप्न में हित हरिवंशजी के शिष्य हुए। ये वृन्दावन ही में रहा करते थे। इनकी लगभग ४० पुस्तकें प्रकाशित हैं। 'भक्त नामावली' पुस्तक के अतिरिक्त नेहमंजरी, रतिमंजरी, प्रेमलता आदि इनके सुन्दर ग्रंथ हैं। इनके ग्रंथों के आश्रय राधा-कृष्ण हैं। इन्होंने दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छन्दों में रचनाएँ की हैं।

उपसंहार—उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत और भी अनेक कवि हैं, जिनमें नागरीदास, अलबेली अली, चाचा हित वृंदावनदास, सुन्दरदास, घमंदास आदि के नाम उल्लेख-नीय हैं। स्थानाभाव के कारण सबका विस्तृत वर्णन देना यहाँ कठिन है। कृष्णभक्ति-साहित्य की परम्परा आधुनिक युग तक आई है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"श्रीकृष्ण-भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य-विषयों की

आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अंतर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और निरंतर रससिक्त बनाता रहता है।"

प्रकरण ८

राम-भक्ति-शाखा

राम-भक्ति का साहित्य

पृष्ठभूमि :—स्वामी शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। उनका अद्वैतवाद भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त नहीं था। फलतः वैष्णव भक्ति का ह्रास होने लगा। किन्तु सामान्य जनता का प्रबोध शंकर के अद्वैतवाद से संभव नहीं था, क्योंकि व्रज की गोपिकाओं के समान उन्हें निरालम्ब के अवलम्बन से कोई आशा नहीं बँधती थी और न सान्त्वना ही मिलती थी। उनका हृदय किसी ठोस आश्रय के अभाव में घुटने लगा था। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप १२वीं एवं १३वीं विक्रम शती के मध्य, अद्वैतवाद के प्रतिरोधार्थ दक्षिण भारत में चार वैष्णव आचार्य अपने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साथ उठ खड़े हुए।

उन चार आचार्यों में मध्वाचार्य विष्णुरूप ब्रह्म के तथा विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य कृष्ण के उपासक थे। केवल रामानुजाचार्य ने राम को अपने आराध्य के रूप में स्वीकार किया। अतः इस परम्परा के भक्त राम के ही उपासक हुए। इसी परम्परा में भक्त राघवानन्द का जन्म हुआ, जिनके शिष्य रामानन्दजी थे।

रामानुजाचार्य जाति-पाँति की कट्टरता से ऊपर नहीं उठ सके थे, किन्तु रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में देश, जाति एवं वर्ण आदि में कोई भेद-भाव नहीं रक्खा। ये वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी नहीं थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में उसका कोई महत्त्व नहीं देते थे। यही कारण

था कि कबीर जुलाहा, रैदास चमार तथा सेना नाई भी इनके शिष्यों में उच्च स्थान रखते थे। रामानंद अपने सिद्धान्तों को अपने शिष्यों पर लादने के पक्षपाती नहीं थे, किन्तु उनका मूलमंत्र राम-मंत्र ही था। उनके निर्गुण तथा सगुण दोनों ही मार्ग के अनुयायियों ने उनसे इस महामंत्र को ग्रहण किया। यह दूसरी बात है कि दोनों ने 'राम' नाम का अर्थ अलग-अलग लगाया।

रामानंदजी की शिष्य परम्परा में नरहयनिंद या नरहरिदास हुए, जिनके शिष्य गोस्वामी तुलसीदास जी थे। वस्तुतः सगुण रूप राम की भक्ति को साहित्य में रखने का सर्वाधिक व्यापक प्रयास गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही किया और राम-भक्ति-साहित्य को चरम उत्कर्ष पर भी पहुँचा दिया।

गोस्वामी तुलसीदास

यों तो तुलसीदासजी की जन्म-तिथि, जन्म-स्थान तथा जीवनी का कुछ निश्चित पता नहीं चलता, किन्तु अंतःसाक्ष्य, बहिःसाक्ष्य तथा आज तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर जो कुछ उनके विषय में जानकारी प्राप्त हुई है, वह निम्नलिखित है :—

पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों के अनुसार तुलसीदास का जन्म राजापुर ग्राम में हुआ था, किन्तु इधर कुछ विद्वानों ने, 'सूकर क्षेत्र माहात्यम' तथा 'वर्षफल' नामक दो नवीन उपलब्ध, किन्तु संदिग्ध पुस्तकों को, नंददास के पुत्र कृष्णदास की रचना मानकर उसके आधार पर तुलसी का जन्म-स्थान सोरों प्रमाणित किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर तुलसीदासजी का जन्म-स्थान सोरों माना तो है, किन्तु उनके शब्दों से उन प्रमाणों के प्रति अविश्वास ही अधिक व्यंजित होता है।

अधिक विद्वानों ने गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म सं० १५८९ ई० में माना है। शिवसिंह ने सं० १५८३ के लगभग तुलसी-

दासजी का जन्म माना था तथा 'गोसाँई चरित' और 'तुलसी चरित', में इनका जन्म सं० १५५४ दिया हुआ है; किन्तु ये मत सर्वमान्य नहीं हुए, क्योंकि इन पुस्तकों की प्रामाणिकता में विद्वानों का विश्वास नहीं है। अभी सर्वमान्य मत यही है कि तुलसीदासजी का जन्म सं० १५८९ में हुआ था।

तुलसी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी बताया जाता है। ये सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनका जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था। 'गोसाँई चरित्र' के अनुसार जन्म के समय तुलसीदास जी पाँच वर्ष के बालक के समान लगते थे और उन्हें पूरे दाँत भी थे। जन्म के समय ही उनके मुँह से राम शब्द निकला था, जिससे उनका प्रारम्भिक नाम 'रामबोला' ही पड़ गया। माता-पिता शिशु के अस्वाभाविक रूप को देखकर भयभीत हो गये। इनकी माँ ने इन्हें एक दासी को दे दिया, जो इन्हें अपने साथ ससुराल ले गई। उस दासी का नाम मुनिया था। पाँच वर्ष के बाद मुनिया का भी देहान्त हो गया। अंत में बाबा नरहरि दास ने उन्हें अपने पास शरण दी। तुलसीदास की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा नरहरिदासजी के यहाँ ही हुई। बाद में उन्हीं के साथ वे काशी मे जाकर पंचगंगा घाट पर रहने लगे थे। वहीं इनकी भेंट महात्मा शेषसनातनजी से हुई जिन्होंने इन्हें वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि मे प्रवीण कर दिया। विद्याध्ययन के अनन्तर ये अपने गाँव राजापुर मे लौट आए। उस समय तक इनके परिवार में कोई नहीं रह गया था।

राजापुर के पड़ोस के गाँव के रहनेवाले भारद्वाजी गोत्री एक ब्राह्मण ने तुलसीदास की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या का विवाह इनके साथ कर दिया। इनकी पत्नी का नाम कुछ विद्वानों के अनुसार विद्योत्मा था और कुछ के अनुसार रत्नावली। कहा गया है कि ये अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। एक बार इनकी अनुपस्थिति में इनकी पत्नी पितृ-गृह चली गयी। जब

संध्या समय वे घर लौटे तो पत्नी को न पाकर बहुत व्याकुल हुए और उसी रात बरसात की भरी गंगा को तैर कर तथा दीवार को लाँघकर पत्नी के पास पहुँचे। पत्नी को इनके व्यवहार पर बड़ी लज्जा आई। वह धिक्कारती हुई बोली कि जितना प्रेम मेरे अस्थि-चर्म मय शरीर से है उतना अगर भगवान से होता तो आपको मुक्ति मिल जाती। स्त्री के वचनों ने उनके हृदय पर गहरा आघात किया और वे विरक्त होकर काशी चले गए।

विरक्त होने के पश्चात् वे काशी से तीर्थयात्रा को निकल पड़े। जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारिका, बदरिकाश्रम आदि धामों का भ्रमण करते हुए ये कैलाश और मानसरोवर तक गये थे। फिर चित्रकोट में आकर कुछ दिन रहे। सं० १६३१ में ये अयोध्या गए और वहाँ दो वर्ष ७ महीनें में इन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना की।

इनकी मृत्यु संवत् १६८० में हुई। इनकी मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं। एक जनश्रुति के अनुसार इनकी मृत्यु सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुई—

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

किन्तु बेनीमाधव दास की पुस्तक मूल गासाँई चरित में इनकी मृत्यु-तिथि श्रावण कृष्ण तृतीया दिन शनिवार है। उसमें पाठ इस प्रकार है—

संवत सोलह से असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

अधिक विद्वान् इसी तिथि को ठीक मानते हैं, क्योंकि गोस्वामीजी के मित्र टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को कवि की स्मृति में अन्नदान करते हैं और वर्षी मनाते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार गोस्वामीजी की मृत्यु प्लेग से हुई।

रचनाएँ :—गोस्वामी तुलसीदास के नाम पर छोटे-बड़े ३७ ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनमें १३ ग्रंथ प्रामाणिक और २४ ग्रंथ अप्रमाणिक माने गये हैं। प्रामाणिक ग्रंथ रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय-पत्रिका, रामचरित-मानस और तुलसी सतसई हैं। इन ग्रंथों में भी प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक जुड़े हुए हैं।

तुलसी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ रामचरित मानस है। यह ग्रंथ मूलतया आदि कवि की कृति रामायण पर आधारित है; पर इसमें उतना ही नहीं, अपितु "नाना पुराण निगमागम, का" भी समन्वय है। कथा की दृष्टि से मौलिक न होकर भी विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह ग्रन्थ नितान्त मौलिक है। रचनाकौशल, प्रबन्धपटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरित मानस में मिलता है।

भाषा :—तुलसीदासजी का ब्रज और अवधी दोनों पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य सूरसागर में है, वही माधुर्य गीतावली और कृष्ण गीतावली में भी हैं। रामचरित मानस की रचना अवधी में हुई है। संस्कृत के प्रकांड पंडित होने के कारण तुलसी की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। विनय-पत्रिका की रचना ब्रजभाषा में हुई है। इनकी भाषा की दुरूहता भी मंजुता, मनोहारिता और सरसता के कारण सुगम बन गई है। भाषा में बुंदेलखंडी, अरबी, फारसी, राजस्थानी, पंजाबी, भोजपुरी तथा बैसवाड़ी के ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"भाषा की दृष्टि से भी तुलसी दासजी की तुलना हिंदी के किसी अन्य कवि से नहीं की जा सकती। जैसा कि शुरू में ही बतलाया गया है, उनकी भाषा में भी एक प्रकार के समन्वय की चेष्टा है। वह जितनी ही लौकिक है,

उतनी ही शास्त्रीय। × × × जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गंभीर होती है, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है।"

तुलसीदासजी ने अपने रचना-नैपुण्य का कहीं भी अस्वाभाविक प्रदर्शन नहीं किया है और न शब्द-चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है, एक भी शब्द फालतू नहीं। सब रसों की सम्यक् व्यंजना इन्होंने की है, पर मर्यादा का उलंघन कहीं नहीं किया है। "प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सबके सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी है।"

अपने युग में, भाषा की दृष्टि से, सबसे अधिक सिद्धहस्त कवि गोस्वामी तुलसीदास थे। सूर ने ब्रजभाषा में सर्वाधिक नैपुण्य अवश्य प्राप्त किया था, किन्तु अवधी पर उनका कुछ भी अधिकार नहीं था। ठीक उसी प्रकार जायसी को ब्रजभाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं था, किंतु तुलसीदासजी का ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर समान अधिकार था।

तुलसीदास की प्रतिभा, महत्व और सफलता

प्रतिभा की दृष्टि से तुलसी की तुलना संसार के इने-गिने कवियों के साथ ही की जा सकती है। इनके समान सूक्ष्म-दर्शिनी और सार-ग्राहिणी दृष्टि शायद ही किसी कवि को मिली हो। मानव-प्रकृति का उन्हें अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। शुक्लजी ने लिखा है—

"भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को और कवि-जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे वीरकाल के कवि उत्साह को, भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, अलंकार काल के कवि दाम्पत्य-प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है।"

शुक्लजी ने तुलसीदासजी के चार गुणों की विशेष रूप से चर्चा की है—मार्मिक स्थलों की पहचान, प्रसंगानुकूल भाषा, शृंगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर वर्णन और इतिवृत्ति की शृंखला। डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार तुलसीदास के काव्य की सफलता उनकी अपूर्व समन्वय शक्ति में है। उन्होंने लिखा है—"उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य-ग्रन्थों में जहाँ लोकविधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपण्डित का समन्वय, रामचरित मानस के आदि से अन्त दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।"

इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर नाभादास ने तुलसीदासजी को 'कलिकाल का बाल्मीकि', स्मिथ ने 'मुगलकाल का सबसे महान् व्यक्ति' तथा ग्रियर्सन ने 'इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोकनायक' कहा है।

रचना-शैली :—तुलसीदासजी के पूर्व हिन्दी-साहित्य में प्रमुखतः पाँच शैलियाँ प्रचलित थीं। प्रथम वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति,

द्वितीय विद्यापति एवं सूर की गीत-पद्धति, तृतीय कवित्त-सवैया पद्धति, चतुर्थ कबीर आदि की नीति सम्बन्धी दोहा-पद्धति और पंचम जायसी आदि प्रेमाख्यान कवियों की दोहा-चौपाई-पद्धति। तुलसी ने इन सभी पद्धतियों को अपनाया और प्रायः सभी पद्धतियों में काव्य की रचना की। उनके रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतो-मुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्य-क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए।

भक्ति-पद्धति :—शुक्लजी के शब्दों में "गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उनका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उनमें समन्वय है, पर उतने का जितना ध्यान के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।"

तुलसी की रचनाओं में जीव और ब्रह्म का भेद कहीं भी संदिग्ध नहीं हुआ है। जीव ब्रह्म से पृथक न हो तो भक्ति एवं भक्त का साफल्य कैसे? क्योंकि भक्त आराध्य से सामीप्य और सायुज्य तो चाहता है, परन्तु एकरूपता नहीं। अतः तुलसी को हम विशिष्टाद्वैतवादी कहेंगे। उन्होंने विश्व को 'राममय' नहीं 'सियाराममय' माना है। विशिष्टाद्वैती होने के कारण उनकी भक्ति सेव्य-सेवक भाव की है।

स्वामी अग्रदास :—ये कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। कृष्णदास पयहारी ने गलता के मठ को नाथपंथियों के हाथ से ले लिया था। अग्रदासजी गलता में ही रहते थे। इनका समय संवत् १६३२ के आसपास माना जाता है। ये एक अच्छे कवि थे। इनकी चार पुस्तकें उपलब्ध हैं—हितोपदेश उपखाण बावनी, ध्यान मंजरी, राम ध्यान

मंजरी और कुंडलिया। इनकी रचना बहुत मँजी भाषा में है। इन्हीं के शिष्य 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध रचयिता नाभादासजी थे।

नाभादास :—ये अग्रदासजी के शिष्य थे। इनका समय संवत् १६५७ के आसपास माना जाता है। ये तुलसीदासजी के समकालीन ही थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है 'भक्तमाल'। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गए हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह ऐसा अपूर्व ग्रंथ है कि परवर्ती काल में इसकी एक अपनी परम्परा स्थापित हो गई। इस पुस्तक में ही भक्तों के नाम के साथ सिद्धिओं और चमत्कारों का बीज वपन हुआ है।

इनकी जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय और कुछ लोग डोम बताते हैं। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके दो ग्रंथ और उपलब्ध हैं—एक रामचरित सम्बन्धी पदों का छोटा-सा संग्रह और दूसरा 'अष्टयाम'।

प्रियादास :—प्रियादास नाभादासजी के शिष्य थे। इन्होंने भक्तमाल पर टीका लिखी थी। यह टीका कवित्त और सवैये में है। इनकी टीका का हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक महत्त्व है। इसमें जीवन-वृत्त की अपेक्षा चमत्कारों का ही अधिक विस्तार किया गया है।

प्राणचंद चौहान :—संस्कृत साहित्य में राम के चरित्र पर अनेक नाटकों की रचना हुई है जिनमें कुछ तो नाटक-शास्त्र के नियमों के अनुसार हैं और कुछ केवल संवाद रूप में होने के कारण नाटक कहे जाते हैं। सं० १६६७ में प्राणचंद चौहान ने 'रामायण महानाटक' लिखा। इसकी रचना पद्य में ही हुई है।

हृदयराम :—ये पंजाब के थे। इनके पिता का नाम कृष्णदास था। इन्होंने संवत् १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा, जिसकी कविता बहुत सुन्दर और परिमार्जित है। इसमें अधिकतर कवित्त और सवैये में बहुत अच्छे संवाद हैं। उस काल

में नाटक के रूप में कई रचनाएँ हुईं, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक है।

केशवदास :—केशवदास का जन्म ओरछा में संवत् १६१२ में हुआ था। इनके पितामह का नाम कृष्णदत्त और पिता का नाम काशीनाथ था। इनके पूर्वज बड़े संस्कृतज्ञ थे। इनके पिता काशीनाथ ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। केशवदास तीन भाई थे—बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास। ये जाति के सनाढय ब्राह्मण थे।

पं० काशीनाथ ओरछाधिपति रुद्रप्रताप के उत्तराधिकारी मधुकर शाह के यहाँ पुराण वाचनार्थ नियुक्त हुए थे। काशीनाथ की मृत्यु के बाद केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता 'नखशिख' के रचयिता बलभद्र मिश्र ने इस पद को सम्हाला। मधुकर शाह के पश्चात् रामशाह सिंहासन पर बैठे; किन्तु राज्य का संचालन उनके छोटे भाई इन्द्रजीत सिंह किया करते थे। महाकवि केशवदास इन्हीं के आश्रय में रहे। इन्द्रजीत इनका अत्यधिक सम्मान करते थे, यहाँ तक कि इन्हें गुरू मानते थे। केशवदास का भी इनपर बहुत अधिक स्नेह था। कहा जाता है कि उन्होंने एक बार उन पर अकबर द्वारा किए गए एक करोड़ के जुर्माने को महाराज बीरबल की सहायता से क्षमा कराया था। जुर्माने के दो कारण बताये जाते हैं—एक तो यह कि रामशाह के भाई वीरसिंह देव ने सलीम की मित्रता के निमित्त अबुल फजल को मरवा डाला था और दूसरा यह कि इन्द्रजीत सिंह के यहाँ एक बड़ी सुन्दरी एवं संगीतकला विशारदा रायप्रवीन नाम की वेश्या थी। महाराज के कहने से केशवदास ने उसे काव्य-कला-प्रवीण बना दिया। बाद में वह महाराज की परिणीता वधू के समान रहने लगी। उसके रूप-गुणों की प्रशंसा सुनकर अकबर ने उसे अपने दरबार में बुला भेजा; किन्तु रामशाह ने भेजने से अस्वीकार किया। इसी पर जुर्माना हुआ था। बाद में जब रायप्रवीन दरबार में गयी तो अकबर को धिक्कारते हुए कहा था—

"जूठी पातर भखत है, बारी, वायस, स्वान।"

कहा जाता है कि रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी को भी केशव ने काव्य-कला की शिक्षा दी थी।

केशव की मृत्यु संवत् १६७४ के आसपास हुई।

केशवकृत नौ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रतनानावनी, रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञान गीता और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, नखसिख और रामालंकृत मञ्जरी। केशव की सर्वोत्कृष्ट कृति रामचन्द्रिका है। इसका निर्माण संवत् १६५८ में हुआ था। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मिलते हैं।

संस्कृत शास्त्रों के प्रकांड पंडित होने के कारण भाषा में कविता लिखते समय एक प्रकार की हीन भावना का अनुभव शायद करते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनमें पांडित्य दिखाने का प्रयत्न कुछ अधिक मात्रा में हो गया। शुक्लजी ने लिखा है—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उसमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।" केशव केवल उक्तिवैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों की पहचान उन्हें नहीं थी। प्रबंध-काव्य के लिए जिन तीन बातों—संबंध, निर्वाह, कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान और दृश्यों की स्थानगत विशेषता—की आवश्यकता होती है, वे केशव के काव्य में नहीं हैं।

शुक्लजी ने कटु आलोचना करते हुए लिखा है—"उन्हें एक बड़ा प्रबन्ध काव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिए राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं, उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनि शाप-हत, किधौं ब्रह्मदोष रत, किधौं कोऊ ठग हो।" ऐसा अलौकिक सौन्दर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूति पूर्ण शुद्ध सात्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक

दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिए कठिन था।"

चारों ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होंने—

देखे मुख भावे, अनदेखेई कमल चंद
ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री ॥

कह कर दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है! प्रबन्धकाव्य रचना के योग्य न तो केशव की अनुभूति थी और न शक्ति। वे वर्णन के लिए करते थे न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। उनकी रचना में शुक्लजी के अनुसार सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिये। कहीं-कहीं उपमान भी बहुत हीन और बेमेल हैं। राम की वियोग-दशा के वर्णन में लिखा है—'बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवन।'"

लेकिन संवाद-योजना में केशव को बड़ी सफलता मिली है। संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना सुन्दर है तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँव-पेंच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है। केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो, पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला।

केशव के पहले कृपाराम ने थोड़ा रसनिरूपण सं० १५९८ में किया था। उसके बाद मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगारसागर' नामक श्रृंगार रस सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा। फिर करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण नामक तीन ग्रन्थ अलंकार सम्बन्धी लिखे थे। पर अब तक किसी ने

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया। ये काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारी कवि थे। अतः इन्हें भामह, उद्भट और दण्डी की परम्परा का कवि मानना होगा, मम्मट, आनंदवर्द्धन और विश्वनाथ की परम्परा का नहीं। केशव के पीछे हिन्दी में जो लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा चली, वह केशव के मार्ग पर नहीं। केशव ने अलंकारों पर 'कवि-प्रिया' और रस पर 'रसिक-प्रिया' की रचना की। इन ग्रन्थों की सामग्री संस्कृत ग्रन्थों से ली गई है।

भाषा की क्लिष्टता के कारण केशव को कठिन काव्य का 'प्रेत' कहा जाता है। केशव ने अपने काव्यों में प्रधानतः ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, किन्तु कहीं-कहीं बुन्देलखण्डी शब्द भी आ गये हैं। स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। अलंकारों की अधिकता के कारण भाषा में अनावश्यक क्लिष्टता आ गई है।

केशवदास भक्ति-युग के अन्त में उत्पन्न हुए थे। सूर और तुलसी के बाद साहित्य में भक्ति का रूप मात्र श्रृंगारिक होकर रह गया। राधा और कृष्ण लीलाधारी प्रकृति-पुरुष न रहकर मधुप-मधुकरी बनकर रह गए, उसी प्रकार राम मर्यादा पुरुषोत्तम न रहकर सीता की मनुहार करते हुए दृष्टिगोचर हुए। यही कारण है कि केशव की रामचन्द्रिका 'मानस' नहीं बन सकी।

केशव को रीतिकालीन कवियों में प्रथम आचार्य कहा जा सकता है। वे आचार्य अधिक और कवि कम थे।

रामभक्ति-शाखा का पतन :—पं शुक्ल के अनुसार रामभक्ति-शाखा में श्रृंगारी भावना के प्रवर्त्तक थे रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरणदासजी, जिन्होंने अयोध्या में पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्वसुखी शाखा'

रखा। स्त्री वेष धारण करके पति 'लाल साहब' से मिलने के लिए सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी के रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए। इनके ग्रंथों के अनुसार रास-लीला राम ने की थी। रामावतार में ९९ रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था जिसके लिये उन्हें फिर कृष्ण के रूप में अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार विलास-क्रीड़ा में श्रीकृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लग गई।

रामचरणदास की उपासना-पद्धति में कुछ हेर-फेर कर चिरान छपरा के जीवारामजी ने 'सखी भाव' की 'तत्सुखी शाखा' चलाई। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हें बहुत मानते थे। इन्हीं की सम्मति से चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि बनाये गये। फिर तो चित्रकूट भी वृन्दावन ही हो गया। इस रसिक पंथ का अयोध्या और उसके बाहर भी बहुत प्रचार हुआ। बहुत से मन्दिरों में राम की 'तिरछी चितवन' और बाँकी अदा के गीत गाये जाने लगे। राम पर अश्लील पदों की रचना होने लगी। जैसे—

पिय हँसि रस रस-कंचुकि खोलैं।
चमकि निवारति पानि लाड़ली, मुरक-मुरक मुख बोलैं॥

जिस प्रकार अयोध्या के साधकों ने राम के चरित्र की प्रधानता दी उसी प्रकार जनकपुर के भक्तों ने जानकी के चरित्र को प्रधान बनाकर काव्य लिखना प्रारम्भ किया। सं० १७६० में अयोध्या के महंथ श्रीराम-प्रियाशरणजी ने सीतायन नाम का एक काव्य लिखा।

डा० द्विवेदी ने लिखा है—"जिस समय इस श्रेणी का साहित्य बड़ी तेजी से लिखा जा रहा था, उस समय साहित्य की मूल धारा दूसरे रास्ते निकल गयी। भगभद्भक्ति की अपेक्षा देश-भक्ति और नवीन राष्ट्र-चेतना ने उसको अधिक प्रेरणा दी और यह साहित्य उपेक्षित रह गया।

भक्तिकाल के अन्य प्रमुख कवि

आलम :—इनका समय संवत् १६४० के आसपास माना गया है। ये मुसलमान थे। इन्होंने 'माधवानल काम कंदला' नाम की एक प्रेम-कहानी को दोहे-चौपाइयों में लिखा। इसमें पाँच-पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहा या सोरठा है। यह कहानी शृंगार रस की दृष्टि से लिखी गई है। ये अकबर के समकालीन थे।

महाराज टोडरमल :—इनका जन्म संवत् १५५० और मृत्यु संवत् १६४६ है। ये खत्री जाति के थे। ये पहले शेरशाह के यहाँ ऊँचे पद पर थे। बाद में अकबर के यहाँ भूमिकर विभाग के मंत्री हुए। ये कुछ दिनों तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये फ़ारसी के अच्छे विद्वान् थे। इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती। इनके पद प्रायः नीति संबंधी हैं।

महाराज बीरबल :—इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर माना जाता है; किन्तु कुछलोग नारनौल भी बतलाते हैं। इनका घर का नाम महेशदास था। ये अकबर के दरबार में रहते थे तथा बड़े ही वाक्‌चतुर, विनोदी एवं प्रत्युत्पन्नमति थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। ये केशवदास के गहरे मित्र थे। इनकी भी कोई पुस्तक नहीं मिलती। इनके कवित्तों का एक संग्रह भरतपुर में है। कविता में ये अपना उपनाम 'ब्रह्म' लिखते थे।

महापात्र नरहरि बंदीजन :—इनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था और मृत्यु संवत् १६६७ में हुई। अकबर ने इन्हें महापात्र की उपाधि दी थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले थे। इन्होंने तीन ग्रंथ—रुक्मिणी मंगल, छप्पय नीति और कवित्त संग्रह की रचना की। कहा जाता है कि इनका एक छप्पय सुनकर अकबर इतना प्रभावित हुआ था कि उसने अपने राज्य में गोवध बंद करा दिया। वह छप्पय इस प्रकार है—

अरिहु दंत तिनु धरै, ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥

अमृत पय नित स्रवहिं, बच्च महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुक कहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

नरोत्तम दास :—इनका जन्म संवत् १६०२ माना जाता है। ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। इन्होंने 'सुदामाचरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की जो बहुत ही लोकप्रिय हुई। इनका एक ग्रंथ 'ध्रुवचरित्र' भी बताया जाता है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रंथ की भाषा बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है।

गंग :—ये अकबर के दरबार के कवि थे। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ लोग ब्रह्मभक्त मानते हैं। इनके जन्मकाल तथा कुल आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। खानखाना रहीम इन्हें बहुत मानते थे। कहा जाता है कि इनके एक छप्पय पर रहीम ने खुश होकर इन्हें छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। वह छप्पय है—

चकित भँवरि रहि गयो, गमन नहिं करत कमल वन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन वन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
वह सुंदरि पद्मिनी पुरुष, न चहै न करै रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम सुवन, जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥

कहा जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से ये हाथी से चिरवा डाले गए थे।

वीर और श्रृंगार रस के बहुत ही सुन्दर कवित्तों की रचना गंग ने की है। हास्य रस का पुट भी बड़ी मात्रा में इनकी रचनाओं में मिलता है। घोर अतिशयोक्तिपूर्ण व्यंग-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। इन्होंने ही 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक खड़ी बोली के ग्रंथ की रचना की थी।

बलभद्र मिश्र :—ये प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६०० के आस-पास माना जाता है। इन्होंने 'नखसिख' नामक रस-अलंकार विषयक ग्रंथ की रचना की थी। इनकी रचना बहुत ही प्रौढ़ और परिमार्जित है। काव्य के दोषों पर इन्होंने 'दूषण विचार' नामक एक दूसरे ग्रंथ की भी रचना की थी।

रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना) :—ये प्रसिद्ध मुगल सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था। ये संस्कृत, अरबी, फारसी तथा हिन्दी के बहुत अच्छे विद्वान् और काव्यमर्मज्ञ थे। अपनी दानशीलता और परोपकार भावना के कारण ये अपने समय के कर्ण माने जाते थे। ये अकबर के प्रधान सेनानायक और मंत्री थे। ये गोस्वामी तुलसीदास के अनन्य मित्र थे।

जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिए धन न होने के कारण घबराया हुआ तुलसीदास के निकट पहुँचा। उन्होंने उसे दोहा की एक पंक्ति लिखकर रहीम के पास भेजा। पंक्ति थी—

सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत-सा धन देकर बिदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दी—

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम को जीवन का व्यापक अनुभव था। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की थी, उसी की व्यंजना इनके दोहों में है। रहीम के दोहे नीति-परक होते हुए भी शुष्क नहीं हैं, बल्कि उनमें मार्मिकता है और उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। इनका 'बरवै नायिका भेद' नामक ग्रंथ सुंदर अवधी भाषा में है। इनकी रचनाओं का पूरा संग्रह 'रहीम रत्नावली' के नाम से प्रकाशित है। इन्होंने कुछ

संस्कृत श्लोकों की भी रचना की है। 'खेट कौतुकम' नाम का एक ज्योतिष का ग्रंथ भी इनका लिखा हुआ है।

मुबारक :—सैयद मुबारक अली का जन्म संवत् १६६० में हुआ था। ये संस्कृत, फारसी और अरबी के अच्छे पंडित थे। इनके ग्रंथ का नाम 'अलक शतक' और 'तिल शतक' है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक-एक पर सौ-सौ दोहों की रचना की थी। दोहे के अतिरिक्त इन्होंने कवित्त और सवैये की भी रचना की थी।

बनारसी दास :—ये संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए थे। ये जौनपुर के रहनेवाले एक जौहरी थे और आगरे में भी रहा करते थे। इन्होंने जन्म से लेकर १६६८ तक की अपनी आत्मकथा लिखी है। ये पहले श्रृंगार-परक रचना लिखा करते थे; पर पीछे इन्होंने वे सब कविताएँ गोमती में फेंक दीं। फिर ज्ञानोपदेशपूर्ण कविता लिखने लगे। इन्होंने जैन धर्म की अनेक पुस्तकों का सारांश हिन्दी में लिखा है। इनकी लिखी हुई ये पुस्तकें हैं—बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममाला, अर्द्ध कथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुव वंदना, कल्याण मंदिर भाषा, वेद निर्णय पंचाशिका और मारगन विद्या। इनकी रचनाशैली सुन्दर है।

सेनापति :—इनका जन्म संवत् १६४६ के आसपास माना जाता है। ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये बड़े ही सहृदय और सिद्धहस्त कवि थे। पुराने कवियों में सर्वप्रथम इन्हीं की कविताओं में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। जीवन के अंतिम प्रहर में ये संसार से विरक्त हो गये थे। ये राम के उपासक थे। इन्होंने गर्वोक्तियाँ भी लिखी हैं, किन्तु वे खटकती नहीं।

भाषा पर इनका अद्भुत् अधिकार था। इनकी भाषा में अनुप्रास और चमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। श्रृंगार की रचना के साथ ही इनके भक्ति-प्रेरित उद्गार भी बहुत अनूठे और चमत्कारपूर्ण हैं। "आपने करम करिहौं ही निबहौंगो

तो हौं ही करतार, करतार तुम काहे के ?" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है। ऋतुवर्णन इनके समान और किसी कवि का नहीं है। 'कवि रत्नाकर' नामक ग्रंथ में इनके भक्ति-भाव के कवित्त हैं। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य कल्पद्रुम' है। इनकी रचना का एक नमूना यहाँ दिया जाता है :—

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धर की औ,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हिये में आनि खर की,
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त भक्तिकाल में और भी अनेक कवि हुए हैं, जिनमें लालचंद, सुंदर, पुहकर, हालराय, जमाल, मनोहर कवि, छीहल, कृपाराम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्थानाभाव के कारण सबका संक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ कठिन है।

प्रकरण—९

उत्तर-मध्यकाल

रीतिकाल

(संवत् १७०० – १९००)

सामान्य परिचय

रीतिकाल की स्थितियाँ :—१७वीं शताब्दी के बाद मुगलों के विशाल साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। शाहजहाँ के जीवन-काल में ही राजधानी के अंतःपुर से लेकर साम्राज्य के कोने-कोने तक विद्रोह की आँधी फैल गई थी। केंद्रीय शासन के निर्बल हो जाने के कारण छोटे-छोटे रजवाड़े और नवाब स्वतंत्र होते गए। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"मुगल शासन के अंतिम दिनों में जिस उत्तरदायित्व-हीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ था, वह नाना टुकड़ों में विभक्त होकर छोटे छोटे आकारों में सारे देश में फैल गया। लेकिन उसकी प्रकृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ संबद्ध हो गई। इसीलिए इस काल की श्रृंगार-भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"

इस काल के समाज में ऐसे तो वर्णव्यवस्था और भी जटिल हो गई, किन्तु अर्थ-व्यवस्था का सामाजिक महत्त्व और अधिक बढ़ गया। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से समाज में दो वर्ग स्पष्ट हो गए—

भोक्ता और उत्पादक, जिन्हें हम शासक और शासित या शोषक और शोषित भी कह सकते हैं। भोक्ता, शासक या शोषक वर्ग में सम्राट् से लेकर छोटे-छोटे राजा, नवाब, सामंत तथा इन सबके अनुचर आदि थे और दूसरे वर्ग में किसान तथा मजदूर थे। इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों आदि कलावंतों का वर्ग था जो प्रायः उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था, किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोद करके अपनी जीविका चलाता था।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "जिस प्रकार के मालिकों का मनोरंजन इन कवियों और कुलावंतों को करना पड़ता था, उस वर्ग को संतुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है, वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं था। दो मूलों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था—रति-रहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रंथों से और दशरूपक, रस मंजरी आदि नायिका-भेद के वर्णन करनेवाले ग्रंथों से। फिर उक्तिवैचित्र्य के लिये अलंकार-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों की भी उन्हें आवश्यकता थी। इस प्रकार इन कवियों ने अत्यन्त पुराने जमाने से प्रचलित तीन श्रेणी के ग्रन्थों का सहारा लिया। (१) नाना प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाओं को बतलानेवाले कामशास्त्र का। (२) उक्तिवैचित्र्य का विवेचन करनेवाले अलंकार ग्रन्थों का। (३) नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावों का विवेचन करनेवाले रस-शास्त्र का।"

रीति-काव्य :—रीति-काव्य के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ आते हैं—एक सलक्षण (लक्षण सहित) और दूसरे अलक्षण (लक्षण रहित)। वे ग्रंथ जिनमें काव्य-रचना किसी काव्यांग-लक्षण के उदाहरण-रूप हुई है, साथ ही लक्षण भी दिया हुआ है, सलक्षण ग्रंथ हैं और अलक्षण ग्रंथ वे हैं जिनमें लक्षण नहीं, वरन् लक्षणों का ध्यान रखकर उनके उदाहरण रूप काव्य की रचना हुई है। इस प्रकार 'रीति-काव्य' वास्तव

में 'लक्षण काव्य' के ही पर्याय रूप में हिन्दी साहित्य के अंतर्गत आता है।

'रीति' का सामान्य अर्थ, काव्य की शैली या पद रचना की विशिष्टता है। वामन ने 'रीति' को ही काव्य की आत्मा माना है—('रीतिरात्मा काव्यस्य'), फिर 'रीति' शब्द का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—विशिष्टा पद रचना रीतिः।' किन्तु हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत 'रीति' शब्द का तात्पर्य विशिष्ट पद रचना से नहीं है, वरन् काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों से है। अतएव हिन्दी में रीति-काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है—लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"यहाँ आकर कविता की प्रेरणा देनेवाली शक्ति अलंकार, रस और नायिका-भेद हो जाते हैं। यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर है, जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति' या 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, सम्भवतः इन्हीं शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा।"

रीति-काव्य की परम्परा:—हिन्दी-साहित्य को रीति-काव्य लिखने की परम्परा संस्कृत-साहित्य से प्राप्त हुई। संस्कृत में काव्य-सिद्धांत और कवि-शिक्षा से सम्बन्धित कुछ लक्षण और सैद्धान्तिक ग्रंथों की रचना के प्रसंग से लक्षणों के साथ-साथ अथवा उनके आधार पर काव्य लिखने की बड़ी वेगवती प्रवृत्ति जागृत हुई और मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य-रचना के समय न केवल उसकी परम्परा ही बन चुकी थी, वरन् उसका विकास चल रहा था और पण्डितराज जगन्नाथ (१८वीं वि० शताब्दी का प्रारम्भ) तक वह पूर्णता को प्राप्त करता रहा। हिन्दी-रीति-काव्य संस्कृत की इसी परम्परा के प्रभावस्वरूप है, किन्तु हिन्दी-रीति-काव्य के अन्तर्गत संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान काव्य के समस्त सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन और विकास नहीं हुआ। जहाँ

संस्कृत में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि सभी को लेकर उच्चकोटि के ग्रंथ लिखे गये, वहाँ हिन्दी का रीति-काव्य, अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में सीमित रहा। रीति और वक्रोक्ति को लेकर बहुत कम लिखा गया। 'वक्रोक्ति' एक विशेष अलंकार के रूप में ही सीमित रही और रीति का संकेत-मात्र ही हुआ। हिन्दी-रीति-ग्रंथों में संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के समान विवेचन की गम्भीरता नहीं है। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण लिखने वाले ग्रंथ अधिक हैं; किन्तु परस्पर भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश अथवा अलंकारों के वर्णन और वर्गीकरण के आधारों की गवेषणापूर्ण व्याख्या का सर्वथा अभाव है। इसका कारण था कि रीति-ग्रंथकारों के सामने कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या नहीं थी। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धांत या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह तथ्य है कि हिन्दी-काव्य-शास्त्र या रीति-ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया।

संवत् १५६८ में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। अब तक की प्राप्त पुस्तकों में यह नायिका भेद की सबसे पहली पुस्तक मानी जाती रही है, किन्तु इधर कुछ दिनों से इस पुस्तक के रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मन में सन्देह उठने लगा है। कुछ लोगों ने १५६८ के स्थान पर संवत् १७६८ की कल्पना की है; किन्तु किसी ठोस प्रमाण के अभाव में 'हिततरंगिणी' का रचना-काल सं० १५६८ के बदले सं० १७६८ नहीं माना जा सकता। अतः हिन्दी में नायिका-भेद सम्बन्धी यह पहली पुस्तक है।

कृपाराम के समकालीन कवि चरखारी के मोहन मिश्र ने संवत् १६१६ में 'शृंगार-सागर' की रचना की। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने 'कर्ण-भरण', 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ

अलंकार सम्बन्धी लिखे। रहीम ने 'बरवै नायिका भेद' तथा नन्ददास ने 'रस मंजरी' की रचना की। रहीम का नायिका-भेद अवधी भाषा तथा बरवै छन्दों में लिखा ललित काव्य-ग्रन्थ है। नन्ददास की 'रस मंजरी' का आधार भानुदत्त की 'रस मंजरी' है।

रस-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदास ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। अतः यह मानना होगा कि काव्य-रीति सम्यक् समावेश करनेवाले और रीति-काव्य की परम्परा डालनेवाले सबसे प्रथम आचार्य केशवदासजी ही हुए, किन्तु हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला—वह भी केशव से भिन्न आदर्श लेकर।

हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। अतः उन्हें हम रीतिकाल का प्रथम कवि मान सकते हैं। इन्होंने सम्वत् १७०० के कुछ बाद 'काव्य-विवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु' तथा 'काव्य प्रकाश' नामक तीन ग्रन्थों की रचना की, जिसमें काव्य के अंगों का सुन्दर निरूपण है। इन्होंने पिंगल या छन्द-शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके बाद तो लक्षण ग्रन्थों की भरमार होने लगी।

शुक्लजी ने लिखा है—"हिन्दी-साहित्य में एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रश्न अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था।"

रीति-पद्धति को लेकर वीर-काव्य लिखनेवाला भूषण के समान दूसरा कोई कवि हिन्दी में नहीं हुआ, साथ ही भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं। सलक्षण ग्रन्थकारों में कुलपति सुखदेव और देव के नाम रीति काल की प्रथम अर्द्धशताब्दी में उल्लेखनीय हैं। देव में आचार्यत्व और कवित्व दोनों की ही उत्कृष्टता विद्यमान थी। पूर्ण पाण्डित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्मस्पर्शी, ललित काव्य लिखनेवाले बिहारी भी इसी बीच के कवि हैं। इनकी 'सतसई' रीति काव्य का अलक्षण ग्रंथ है, परन्तु इसके भीतर लगभग सभी रीति-पद्धतियों के सुघर उदाहरण मिल सकते हैं।

इन कवियों के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ। इसी बीच के लक्षणकारों में सुविख्यात कालिदास, सुरतिमिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, दूलह, वैरीसाल, पद्माकर, बेनी, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि हैं। इनके द्वारा रीति-काव्य की परम्परा को एक निश्चित और दृढ़ स्वरूप प्राप्त हो गया। इनके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य कवियों ने भी इसी रीति-पद्धति का अवलम्बन करके अपनी काव्य-रचना इस युग में की।

भिखारीदास रीति-काल के अन्तिम बड़े आचार्य थे और पद्माकर रीति परम्परा के वास्तव में अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि। इस युग में स्वछन्द रूप से लिखनेवाले या रीति-मुक्त धारा के कवियों में घनानन्द, बोधा, सीतल, ठाकुर आदि प्रमुख हैं।

रीति-काव्य की परम्परा रीति-काल ही में समाप्त नहीं हो जाती, वरन् आधुनिक काल तक आती है।

रीति-काव्य की विशेषता:—यद्यपि रीति-काव्य के आधार संस्कृत के काव्य-शास्त्र के ग्रंथ हैं, फिर भी इसमें काव्य की विशेषता को समझने और समझाने का ढंग और प्रयास मौलिक है। यह सत्य है कि इनमें सैद्धान्तिक रूप से काव्य का कोई विकास नहीं हो पाया तथा काव्य सम्बन्धी समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान नहीं हुआ,

किन्तु फिर भी इनका अपना महत्त्व है। इस काव्य में आये उदाहरण प्रायः अत्यन्त ही सुन्दर हैं। लक्षण से उदाहरण खण्ड अधिक रोचक और जनप्रिय हुआ है। इनमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। रीति-काव्य शास्त्र की दृष्टि से चाहे उतना महत्त्वपूर्ण न हो, पर कवित्त्व की दृष्टि से बड़ा ही मनोरम है।

रीति-काव्य की सीमाएँ :—यद्यपि रीति-काव्य श्रृंगार-प्रधान काव्य है, किन्तु उसमें श्रृंगार रस की साधना में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है। इस श्रृंगार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है और न उसके सौन्दर्य का ही स्वाभाविक वर्णन हुआ है। रीति-काव्य में वर्णित प्रेम, "प्रारम्भ से अन्त तक महत्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभाव से प्रायः अस्पृष्ट, पिण्ड नारी के आकर्षण से हततेजा और स्थूल प्रेम-व्यंजना से परिलक्षित हैं। यह सब ओर से रुद्धगति हो गए हुए मानस व्यापारी की विश्राम-भूमि है, कर्मठ और बहुधा विभक्त चित्त की गतिशील प्रक्रिया का सामयिक विराम-स्थल नहीं। जीवन के मूल प्रश्नों से उसका सम्बन्ध थोड़ा है।"

रीतिकालीन कवियों के लिए भक्ति-भावना कवच का काम देती है। 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न तो राधिका गोविन्द सुमिरन को बहानो है।'

रीतिकाव्य की भाषा :—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"रीति-काल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण के द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत-संस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रज-भाषा काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्य-दोषों का ही पूर्णरूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती।"

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण ब्रज और अवधी इन दोनों काव्य-भाषाओं का कवि के इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। फारसी काव्य के शब्दों को भी थोड़ा-बहुत कवियों ने अपनाना प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति आदिकाल से ही चली आ रही थी। रीतिकाल में ऐसे शब्दों की संख्या और बढ़ी। किन्तु उत्कृष्ट कवियों ने विदेशी शब्दों को अपने काव्य में कम स्थान दिया।

रीतिकालीन कवियों के प्रिय छंद कवित्त, सवैया और दोहा ही रहे। शृङ्गार और वीर दोनों रसों में कविता लिखी गई, किन्तु प्रधानता शृङ्गार रस की ही रही।

प्रमुख रीति-ग्रन्थकार

चिंतामणि त्रिपाठी :—इनका जन्म कानपुर जिले के तिकवाँपुर नामक ग्राम में संवत् १६६६ के आसपास हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। रत्नाकर त्रिपाठी के चार पुत्र थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारो कवि थे, जिनमें प्रथम तीन तो हिन्दी साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध कवियों में गिने जाते हैं। चिंतामणि सबसे बड़े भाई थे। इन्होंने संवत् १७०७ में 'कवि-कुल-कल्पतरु' नामक ग्रंथ की रचना की। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये नागपुर में सूर्यवंशी भोसला मकरन्द शाह के यहाँ रहते थे और छंद-विचार, काव्य-विवेक, कवि कुल-कल्प-तरु, काव्यप्रकाश और रामायण नामक पाँच ग्रन्थों की रचना इन्होंने की थी। किन्तु इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'कविकुल कल्पतरु' ही है।

ग्रंथ में दिए गए उदाहरणों से इनके सच्चे कवि-हृदय का सुन्दर परिचय मिलता है। इनके विचार पूर्ण सुलझे हुए हैं। इनकी रचनाओं में भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और भावों का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। बाबू रुद्रशाह सोलंकी, बादशाह शाहजहाँ तथा जैनदी अहमद के यहाँ इनको काफी सम्मान मिला था। अवध के पिछले कवियों की अपेक्षा

इनकी ब्रजभाषा अधिक परिमार्जित और शुद्ध है। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे।

महाराज जसवंत सिंह :—ये मारवाड़ के महाराजा थे और अपने समय के सबसे प्रतापी हिंदू नरेश थे। इनका जन्म संवत् १६८३ में हुआ था। ये बड़े अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनके यहाँ कवियों और साहित्य-रसिकों का बहुत सम्मान होता था। इन्होंने स्वयं तो ग्रंथ लिखे ही; अन्य विद्वानों और कवियों से भी ग्रंथ लिखाये। इनकी मृत्यु संवत् १७३५ में हुई।

इनका 'भाषा-भूषण' अलंकार-शास्त्र का अच्छा ग्रन्थ माना जाता है। हिन्दी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में इनका स्थान है। 'भाषा-भूषण' की रचना इन्होंने आचार्य के रूप में की है। इस ग्रंथ की रचना 'चन्द्रालोक' के आधार पर हुई है। ये आचार्य थे, कवि नहीं। 'भाषा-भूषण' के अतिरिक्त इन्होंने तत्त्वज्ञान संबंधी पुस्तकों की भी रचना की है, जिनमें अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभव प्रकाश, आनंद-विलास, सिद्धान्त-बोध, सिद्धान्तसार प्रमुख हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक की भी रचना इन्होंने पद्य में की है।

बिहारी लाल :—इनका जन्म संवत् १६६० के आसपास ग्वालियर के निकट बसुआ गोविंदपुर नामक गाँव में हुआ। 'शिव-सिंह सरोज' के अनुसार ये चौबे, सतसई के टीकाकार हरिचरन दास के अनुसार ब्राह्मण-श्रेष्ठ, राधा कृष्णदास के अनुसार सनाढ्य ब्राह्मण तथा जगन्नाथदास रत्नाकर के अनुसार घौम्यगोत्री माथुर चौबे थे। पं. रामचंद्र शुक्ल तथा डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी इस विषय में जगन्नाथ दास से ही सहमत हैं।

बिहारी की बाल्यावस्था बुंदेलखंड में समाप्त हुई। किंतु युवा-वस्था के प्रारम्भ में ही वे अपनी ससुराल मथुरा चले गए और वहीं बस गए। जनश्रुति है कि एकबार बिहारी लाल जयपुर गए तो इन्हें मालूम हुआ कि महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के साथ

इतने तल्लीन रहते हैं कि अंतःपुर के बाहर निकलते तक नहीं। बिहारी ने एक दोहा बनाकर महाराज के पास अंतःपुर में भेजा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल।

कहते हैं कि इस दोहे को पढ़कर महाराज बिहारी पर बहुत आधक प्रसन्न हुए और उसी दिन से उन्हें अपने दरबार में रख लिया। यह घटना चाहे सत्य न हो, किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि बिहारी जयपुर के राजा जयसिंह के आश्रय में रहते थे और वहीं रहकर इन्होंने 'बिहारी सतसई' की रचना की थी। 'बिहारी सतसई' की रचना-समाप्ति संवत् १७०५ के आसपास हुई।

बिहारी लाल रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि माने जाते हैं। शृंगार-रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' को प्राप्त हुआ उतना अन्य किसी ग्रंथ को नहीं। इस ग्रंथ की ६० से भी अधिक टीकाएँ लिखी गयीं हैं। बिहारी ने सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा, फिर भी उसे जितनी ख्याति मिली उतनी ख्याति उस काल के अन्य किसी भी कवि को नहीं। मुक्तक काव्य में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है।

सतसई की परम्परा और बिहारी-सतसई :—भारतीय साहित्य में 'सतसई' की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस परम्परा की सबसे पहली पुस्तक हाल कवि की, प्राकृत भाषा में लिखी हुई, 'गाथा सप्तशती' मानी जाती है। दूसरी पुस्तक गोवर्धनाचार्य की संस्कृत में लिखी हुई 'आर्या सप्तशती' है। इसी तरह 'अमरूशतक' 'चण्डी-शतक' आदि अनेक ग्रन्थ प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, जिनकी रचना ७०० श्लोकों या पदों में हुई है। परवर्ती साहित्य में भी तुलसी, रहीम आदि कवियों ने 'सतसई' की रचना की है। मुबारक का 'अलकशतक' और 'तिलशतक' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इस प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

के अनुसार—"बिहारी की सतसई किसी रीति-मनोवृत्ति की उपज नहीं है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ती है और अपनी परम्परा को सम्भवतः अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है।"

बिहारी के बहुत से दोहे 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' की छाया में रचे गए हैं, किंतु बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल पर और भी सुन्दर रूप देकर स्वतंत्र और मौलिक बना दिया है। जिस कवि को परम्परा की इतनी बड़ी विरासत मिली हो उसमें यदि पूर्ववर्ती साहित्य के कुछ चिह्न मिल जाते हों तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

बिहारी का वैशिष्ट्य :—बिहारी एक सजग कलाकार थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी बड़े कवियों की रचनाओं का निपुण अध्ययन किया था और इस बात का प्रयास किया था कि उनके दोहे अधिक व्यंजक, मर्मस्पर्शी और मधुर हों। वे सूक्ति-संग्राहक कवि थे। उन्होंने अर्थ की रमणीयता का ध्यान अधिक रक्खा है, इसलिए उनके अलंकार भी रसोद्रेक में सहायक होते हैं।

बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों और भावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है—

ललन-चलन सुनि पलन में, अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हूँ, झूठे ही जमुहाइ॥
बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाइ।

बिहारी ने केवल भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना का ही नहीं, वस्तु-व्यंजना का भी सहारा लिया है। कहीं-कहीं तो इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा से भी बाहर चली गई है—

छाले परिवे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झवाझवावति पाइ॥

अलंकारों की योजना भी इनकी अनुपम है—

तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥
दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित्त प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक व्रजभाषा है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों का रूप भी अविकृत है। इस गुण का प्रायः अधिक कवियों में अभाव ही पाया जाता है। व्रजभाषा का अत्यन्त सुन्दर रूप हमें 'सतसई' में दृष्टिगोचर होता है। अगर कहीं-कहीं विदेशी या अन्य प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग हुआ भी है, तो वे शब्द खटकते नहीं।

बिहारी सतसई से कविवर बिहारी की प्रतिभा, काव्यसौष्ठव, अपार क्षमता और वाग्वैदग्ध्य का पता तो चलता ही है, साथ ही उनके पांडित्य पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन्हें ज्योतिष, वैद्यक और इतिहास आदि का भी ज्ञान था। उनके अनेक दोहों से इस कथन की पुष्टि होती है।

बिहारी की सीमाएँ :—बिहारी ने कृष्ण और राधा को तो अपने काव्य में स्थान दिया, किन्तु नायक और नायिका के रूप में। फलतः बिहारी का काव्य भक्ति-काव्य नहीं रहकर पूर्ण श्रृंगार-काव्य हो गया है।

शुक्लजी ने लिखा है—"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है, उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियों के पक्ष में समझना चाहिए—उनके पक्षों से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों 'वाह-वाह' किया करते हैं। पर जो हृदय के अन्तस्थल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं,

किसी भाव की स्वच्छ निर्मलधारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता।"

भूषण :—भूषण प्रसिद्ध कवि चिंतामणि, मतिराम और जटाशंकर के भाई थे। 'भूषण' इनका उपनाम कहा जाता है, लेकिन इनके नाम का कुछ भी पता नहीं चलता। कुछ लोगों ने इनका नाम मतिराम बताया है।

भूषण के जन्मकाल के सम्बन्ध में भी कई मत हैं। पं० शुक्ल और डा० द्विवेदीजी ने इनका जन्म संवत् १६७० माना है, शिवसिंह सेंगर ने सं० १७३८ और मिश्रबंधुओं ने सं० १६७२ माना है। डा० विमलकुमार जैन ने अनेक प्रमाणों के आधार पर भूषण का जन्म सं० १६७२ को ही प्रमाणित किया है।

इनके पिता का नाम रत्नाकर था। ये (कानपुर जिला के) त्रिविक्रमपुर के निवासी थे। एक जनश्रुति के अनुसार भूषण युवावस्था तक बड़े अल्हड़ और अकर्मण्य थे। एक बार भोजन में नमक कम होने के कारण भूषण ने अपनी भाभी से नमक माँगा, इस पर भाभी ने ताना देते हुए कहा—"कहाँ से नमक लाऊँ, तुमने बहुत कमा के रख दिया है न!" यह सुनकर भूषण खाने पर से उठ गए और घर से निकल गए। उन्होंने विद्याध्ययन किया और शीघ्र ही जगदम्बा की कृपा से एक प्रतिभाशील कवि हो गए।

भूषण ने विद्याध्ययन कर जब चतुर्दिक दृष्टि डाली तो उन्होंने हिंदू-धर्म, हिंदू समाज तथा हिंदू जनता पर मुसलमान शासकों के द्वारा तरह-तरह के अत्याचार होते हुए देखा। वे उससे बड़े क्षुब्ध हुए। उन्होंने हिन्दू राजाओं के आश्रय में रहकर हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू जनता की रक्षा की प्रतिज्ञा की। इसी ध्येय से वे सर्वप्रथम चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलंकी के दरबार में गये। यहीं पर उन्हें १७२२ में 'कवि भूषण' की उपाधि मिली। इसके पश्चात् वे अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके

वीर-काव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान हुआ। कहते हैं कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था। जिस पर उन्होंने कहा था—"सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को।" कहा जाता है कि इन्हें एक-एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास संवत् १७७२ में माना जाता है।

भूषण की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—शिवराज भूषण, शिवा बावनी और छत्रसाल दशक। इनके अतिरिक्त इनके तीन ग्रंथ और कहे जाते है—भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा। शिवराज-भूषण अलंकार का ग्रंथ है।

भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के चरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया। वे दोनों अन्याय-दमन में तत्पर, हिंदूधर्म-रक्षक, इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आज भी है। इसी से भूषण के वीर रस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय के हार बने। शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णन को कोई कवि की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाता की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू जनता स्मरण करती है, उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि थे।

भूषण ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। देश के प्रायः सभी प्रान्तों का भ्रमण करने के कारण इनकी भाषा में अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी आ गए हैं। इनकी रचनाओं में लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। भूषण की भाषा में ओज की मात्रा पूरी है। व्याकरण के नियमों के उल्लंघन तथा शब्दों के रूप को कहीं-कहीं विकृत कर देने के कारण किसी-किसी रचना की भाषा अव्यवस्थित हो गई है।

पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं, वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं।

भूषण की राष्ट्रीयता :—भूषण को हम राष्ट्रीय कवि कह सकते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि भूषण कट्टर हिंदू थे अतः उनमें धार्मिक विद्वेष अधिक था। इसके लिए कुछ प्रमाण भी दिए जाते हैं—जैसे शिवराज भूषण के प्रारम्भ में हिंदू देवी-देवताओं की स्तुति, शिवाजी को राम, परशुराम, नृसिंह आदि कहना, मुसलमानों के लिए अपशब्दों का प्रयोग तथा मुसलमान की स्त्रियों का औचित्य की सीमा के बाहर वर्णन आदि। किन्तु इन आक्षेपोंको ध्यानपूर्वक देखें तो ये निराधार दीख पड़ेंगे।

मंगलाचरण आर्यों की अत्यन्त प्राचीन पद्धति है, जो ग्रंथ के प्रारम्भ में विघ्न-निवारणार्थ किया जाता है। भूषण ने ऐसा ही किया है। वे हिंदू थे अतः हिंदू देवताओं की स्तुति उन्होंने की है। शिवाजी को राम, परशुराम कहने में उनका श्रद्धाभाव झलकता है। जिसके प्रति श्रद्धा की मात्रा अधिक होती है, उसे मनुष्य बड़ा बनाकर देखता ही है। मुसलमानों के लिए अपशब्दों का प्रयोग इसलिए किया गया है कि औरंगजेब ने हिंदुओं का जीवन नारकीय बना दिया था। औरंगजेब और अफजल खाँ आदि के लिए अपशब्दों का प्रयोग उनकी क्रूरता के प्रदर्शनार्थ हैं। त्रस्त स्त्रियों का जो वर्णन है, वह स्वाभाविक है, भय में ऐसा ही होता है।

भूषण मुसलमान जाति से घृणा नहीं करते थे। प्रमाण यह है कि वे स्वयं जहाँदार शाह, आदिलशाह और कुतुबशाह के दरबार में भी रहे थे। वे सदैव हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य चाहते थे। उन्होंने औरंगजेब के अतिरिक्त उसके सभी पूर्वजों की बड़ी प्रशंसा की है। स्त्री, कुरान तथा मस्जिद की बुराई कहीं नहीं की। स्पष्ट है कि भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे वरन् उस औरंगजेब के विरोधी थे, जिसने अपने पूर्वजों के बनाये हुए सुन्दर मार्ग को छोड़कर हिन्दुओं पर अत्याचार करना ही अपना धर्म मान लिया था।

उपर्युक्त दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भूषण जाति-विद्वेष के शिकार नहीं थे वरन् एक सच्चे राष्ट्रभक्त थे। राष्ट्र की जनता के शत्रु की निन्दा करना तथा उसके संहार का प्रयास करना राष्ट्रीयता या राष्ट्रप्रेम ही कहा जायगा। भूषण ने वही किया है, इसलिए उन्हें राष्ट्र-कवि मानने में किसी को हिचक नहीं होनी चाहिए।

मतिराम :—परम्परा से प्रसिद्ध है कि मतिराम चिंतामणि तथा भूषण के भाई थे। डा० द्विवेदी के अनुसार ये सम्भवतः भूषण से अवस्था में बड़े थे। किंतु पं० शुक्ल ने इनका जन्म लगभग संवत् १६७४ माना है, अतः इन्हें भूषण से बड़ा नहीं कहा जा सकता। बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ रहकर इन्होंने अपने प्रसिद्ध अलंकार ग्रथ 'ललितललाम' की रचना की। इनका 'छन्दसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शम्भुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त इनके चार ग्रंथ और हैं—रसराज, साहित्यसार, लक्षण शृंगार और मतिराम-सतसई।

इनकी रचनाएँ भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से अत्यन्त स्वाभाविक हैं। भाषा शब्दाडंबर से मुक्त है। इनके समान रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा, रीति का अनुसरण करनेवाले कवियों में बहुत कम ही मिलती है। नायिका के विरह-ताप को लेकर विहारी के समान मजाक इन्होंने कभी नहीं किया है। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसंद नहीं थी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़कर और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नहीं मिलती। उदाहरण:—

केलि कै राति अघानों नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
"प्यास लगी कोउ, पानी दै जाइयो", भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरै मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं, सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

कुलपति मिश्र :—ये आगरे के रहनेवाले थे। ये माथुर चौबे जाति के थे। कहा जाता है कि ये बिहारी के भानजे थे। ये महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल सं० १७२४ से संवत् १७४३ के बीच माना जाता है। संवत् १७२७ में इन्होंने 'रसरहस्य' नामक ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इनके चार ग्रंथ और हैं—द्रोणपर्व, युक्ति-तरंगिणी, नख-शिख और संग्राम-सार।

इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद है। ये काव्य-शास्त्र के अच्छे पंडित थे। इस ग्रंथ में इन्होंने पद्य के साथ-साथ गद्य का भी सहारा लिया है। कहीं-कहीं भाषा के दुरूह हो जाने के कारण विषय स्पष्ट नहीं हो पाया है। यही कारण है कि इस ग्रंथ का जितना प्रचार होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ।

सुखदेव मिश्र :—ये रायबरेली जिला के अन्तर्गत दौलतपुर के रहनेवाले थे। (महावीर प्रसाद द्विवेदी यहीं के रहनेवाले थे।) इनका जन्मस्थान कंपिला था। इनका कविता-काल सं० १७२० से स० १७६० तक माना जाता है। इनके ग्रंथ हैं—वृत्तविचार, छंद विचार, फाजिल अली प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश और दशरथ राय।

ये अच्छे पण्डित थे। इनके आश्रयदाता असोथर के राजा भगवंत राय खीची तथा डौड़िया-खेरे के राव मर्दन सिंह थे। जीवन के अंतिम दिनों में ये कुछ दिनों तक औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली शाह तथा फिर मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ रहे। इन्हीं के कहने से ये दौलतपुर मे जा बसे थे। ये कवि तथा आचार्य दोनों थे। छंदशास्त्र पर इनके समान विवेचन अन्य किसी कवि ने नहीं किया। 'फाजिलअली प्रकाश' तथा 'रसार्णव' दोनों में शृंगार के उदाहरण बहुत सुंदर हैं।

कालिदास त्रिवेदी :—ये अंतर्वेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं है। ये जंबूनरेश जोगजीत सिंह के यहाँ कुछ दिन रहे थे। उन्हीं के कहने से संवत् १७४६ में

'वरवधू विनोद' नामक ग्रंथ की रचना की। 'जजीराबंद' नामक एक छोटी-सी पुस्तक की रचना भी इन्होंने की थी जिसमें ३२ कवित्त हैं। 'राधा माधव-बुध मिलन विनोद' भी इनका ग्रंथ है। 'कालिदास हजारा' नामक एक ग्रथ का संग्रह भी इन्होंने किया था जिसमें २१२ कवियों के १००० पद संगृहीत हैं। कवियों के काल आदि के निर्णय में यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। ये अभ्यस्त और निपुण कवि थे।

देव :—इनका जन्म संवत् १७३० में हुआ था। ये इटावे के रहनेवाले थे। इनका पूरा नाम देवदत्त था। कुछ विद्वानों ने इन्हें कान्यकुब्ज़ और कुछ ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण माना है। इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता नहीं मिला। ये बराबर एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकते रहे। कई आश्रयदाताओं के यहाँ इन्हें भटकना पड़ा।

आश्रयदाता :—देव के प्रथम आश्रयदाता दिल्लीपति आजमशाह थे। देव ने 'भावविलास' और 'अष्टयाम' की रचना उन्हीं के आश्रय में की थी। इनके दूसरे आश्रयदाता साँवलसिंह के पुत्र चर्खीदादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य थे। देव ने अपना 'भवानी विलास' नामक ग्रंथ इन्हीं को समर्पित किया है। इसके बाद में फफूँद के राजा कुशल सिंह के यहाँ गये। वहाँ रहकर इन्होंने 'कुशल विलास' की रचना की। अब तक जितने भी आश्रयदाता देव को मिले, वे स्थायी रूप से देव को अपने आश्रय में न रख सके। संवत् १७८३ में देव की भेंट राजा भोगी लाल से हुई। ये कहीं के राजा नहीं थे वरन् यह इनकी उपाधि थी। 'रस विलास' की रचना इन्हीं के लिए की गई। देव ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु यहाँ भी वे अधिक दिन तक नहीं ठहर सके। इसका कारण भोगीलाल की उदासीनता नहीं असमर्थता थी, क्योंकि वे अधिक सम्पत्तिशाली नहीं थे। इसके बाद वे इटावा के समीप ड्योढ़ियाखेरा के भूपति उद्योत सिंह के आश्रय में रहे। उनके लिए इन्होंने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की, फिर दिल्ली के एक प्रतिष्ठित रईस सुजानमणि के आश्रय में रहकर इन्होंने 'सुजान विनोद' लिखा।

देव के अंतिम आश्रयदाता पिहानी के नरेश अकबरअली खाँ थे। देव ने अपना अंतिम संग्रह ग्रंथ 'सुखसागर तरंग' इन्हीं को समर्पित किया है। इसके पश्चात् का इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता।

रचनाएँ :—'शिवसिंह सरोज' के अनुसार देव के ग्रन्थों की संख्या ७२ और मिश्र-बन्धुओं के अनुसार ५२ है। पं० शुक्ल ने २५ ग्रन्थों की चर्चा की है। डा० द्विवेदी ने भी शुक्लजी का ही समर्थन किया है। किंतु इधर की खोजों से देव के केवल १८ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और ६ के नाम का पता चला है जो उपलब्ध नहीं हैं।

उपलब्ध ग्रंथ :—(१) भाव विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी विलास, (४) प्रेम तरंग, (५) कुशल विलास, (६) जाति विलास, (७) रस विलास, (८) प्रेमचन्द्रिका, (९) सुजान विनोद, (१०) राग रत्नाकर, (११) शब्द रसायन, (१२) देव चरित्र, (१३) देवमात्रा प्रपंच, (१४) जगद्दर्शन-पचीसी, (१५) आत्मदर्शन-पचीसी, (१६) तत्त्वदर्शन-पचीसी, (१७) प्रेम पचीसी, (१८) सुखसागर तरंग।

अनुपलब्ध ग्रंथ :—(१) रसानन्द लहरी, (२) प्रेम दीपिका, (३) सुमिल विनोद, (४) राधिका विलास, (५) पावस विलास, (६) कक्ष विलास, (७) नखशिख प्रेम-प्रदर्शन, (८) नीतिशतक, (९) वैद्यक ग्रंथ।

ग्रन्थों की अधिक संख्या के सम्बन्ध में यह जान रखना आवश्यक है कि देव ने अपने पुराने ग्रन्थों के कवित्तों को इधर-उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया है।

देव का वैशिष्ट्य :—देव वास्तव में शृङ्गार के कवि थे। उन्होंने नवरस का विधान करते हुए भी प्रधानतः शृङ्गार को ही मूल रस ठहराया है। वे शृङ्गार का मूल प्रेम मानते हैं। उनकी रचना में स्वकीया नायिका सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। देव ने शृङ्गार के दोनों पक्षों का बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। विरह के चित्रण में देव रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

ये आचार्य और कार्य दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं ; किन्तु आचार्य के रूप में वे उतने सफल नहीं माने जा सकते। कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी, पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष बाधक हुई। पं० शुक्ल के शब्दों में—"कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि, बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी।" कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक है और अर्थ कम।

भाषा :—देव की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा है, जिसमें यत्र-तत्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बुंदेलखंडी और फारसी के अनेक शब्द तत्सम रूप में या कुछ विकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनकी भाषा अनुप्रासबहुल है। तुकांत और अनुप्रास के लिए ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते मरोड़ते न थे, वाक्य को ये भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह हो पाया है वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका सा अर्थसौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवि में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। रचना का नमूना :—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसीं न उघेरी।
री ! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरी नहिं घेरी॥
देव कछू अपनो बस ना, इस लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

दास (भिखारी दास) :—ये प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जाता है। प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई बाबू हिंदूपति सिंह इनके आश्रयदाता थे। इनके इतने ग्रन्थों का पता चला है—रससारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्यनिर्णय, शृङ्गारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश, शतरंजशतिका तथा अमरप्रकाश।

इनका 'काव्यनिर्णय' हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्र का ग्रंथ माना जाता है। काव्यांगों के वर्णन में इनको सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है। इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। श्रीपति के ग्रन्थ 'काव्य-कल्पद्रुम' से इन्होंने बहुत सहायता ली है।

इन्होंने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। ये उच्चकोटि के कवि थे। इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भाव-पक्ष में रञ्जन-कारिणी है।

नेवाज :—ये अन्तर्वेद के ब्राह्मण थे और पन्नानरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे, जिस पर भगवत् कवि ने यह फवती छोड़ी थी :—

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म सं० १७३६ लिखा है जो ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इनके 'शंकुतला नाटक' का निर्माणकाल स० १७३७ है। इन्होंने इस आख्यान की रचना दोहा, चौपाई, सवैया आदि छंदों में की है। इनकी भाषा बहुत परिमार्जित, व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। ये एक अच्छे शृंगारी कवि थे। रचना का उदाहरण :—

आगे तौ कीन्ही लगालगी लोचन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, अनहू तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

सूरति मिश्र :—ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये नसरुल्ला खाँ नामक सरदार के यहाँ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया-जाया करते थे। इन्होंने सं० १७६६ में 'अलंकारमाला' तथा सं० १७९४ में बिहारी सतसई की 'अमरचन्द्रिका' नामक टीका

लिखी। इन्होंने 'वैताल पंचविंशति' का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया। इनके और भी कई ग्रन्थ हैं—अलंकारमाला, रसरत्नमाला, सरसरस, रसग्राहक चन्द्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धान्त तथा रसरत्नाकर।

श्रीपति :—ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके सात ग्रन्थों का पता है—काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रास विनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका और अलङ्कार गंगा। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का विशद् विवेचन किया है। काव्य के दोषों पर भी अच्छा प्रभाव डाला है। दासजी (भिखारीदास) ने 'काव्यनिर्णय' ग्रन्थ की रचना श्रीपति के ग्रन्थों के आधार पर ही की थी।

तोष निधि :—ये इलाहाबाद जिले के शृंगवेरपुर गाँव के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होंने सं० १७६१ में 'सुधानिधि' नामक रस-भेद तथा भाव-भेद के ग्रन्थ की रचना की। इनके विनयशतक और नखशिख नामक दो और ग्रन्थ मिले हैं। ये एक अच्छे सहृदय कवि थे।

रसलीन :—ये जिला हरदोई के बिलग्राम के रहनेवाले थे। इनका नाम सैयद गुलाम नवी था। संवत् १७६४ में इन्होंने 'अंग-दर्पण' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ मे अंगों की उपमा तथा उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इसके अतिरिक्त सं० १७६८ में इन्होंने इस विषय का 'रसप्रबोध' नामक ग्रंथ लिखा। ये एक अच्छे कवि थे। यह प्रसिद्ध दोहा जिसे लोग बिहारी का समझते थे, रसलीन का ही है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

दूलह :—ये प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनका रचना-काल सं० १८०० से संवत् १८२५ के आस-पास माना जाता है। इनका लिखा हुआ "कवि कुल-कंठाभरण" अलङ्कार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। इसमें केवल ८५ पद्य

हैं। इतनी कम रचना रहने पर भी इनका नाम देव, मतिराम आदि कवियों के साथ लिया जाता है। किसी कवि ने प्रसन्न होकर कहा है—"और बराती सकल कवि, दूलह दूलह राय।" इनकी रचना अत्यन्त मधुर औ शृङ्गारी है।

एक उदाहरण :—

धरी जब बाँही तब करी तुम 'नाहीं',
पायँ दियौ पलका ही 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ॥
चुम्बन में नाहीं, परिरम्भन में नाहीं,
सब आसन बिलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ॥
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह,
'हाँ' ते भली 'नाहीं' सो कहाँ ते सीखि आई हौ॥

बेनी बन्दीजन :—ये जिला रायबरेली के 'बैंती' नामक स्थान के रहनेवाले थे और अवध के प्रसिद्ध वजीर महाराज टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। उन्हीं के नाम पर इन्होंने "टिकैतराय प्रकाश" नामक अलंकार-ग्रन्थ सं० १८४९ में लिखा। इनका दूसरा ग्रंथ 'रस विलास' है। इनकी प्रसिद्धि इन पुस्तकों के कारण नहीं अपितु "भँड़ौवा संग्रह" के कारण है। भँड़ौवा हास्य-रस की उस रचना को कहते हैं जिसमें किसी की उपहासपूर्ण निन्दा रहती है। उर्दू में इसे 'हजा' और अंगरेजी में सटायर (Satire) कहते हैं।

'भँड़ौवा संग्रह' में बेनीजी ने बहुत व्यक्तियों की निन्दा की है, जिनमें औरंगजेब, लखनऊ के ललकदास महंथ, दयाराम आदि व्यक्तियों के नाम सम्मिलित हैं।

पद्माकर भट्ट :—इनका जन्म बाँदे में सं० १८१० में हुआ। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका कुल पण्डितों का कुल था। ये स्वयं बहुत बड़े पण्डित और बहुत अच्छे कवि थे। कई राजाओं के यहाँ

इनका गुरू के समान सम्मान होता था। ये कुछ दिनों तक नागपुर के महाराजा रघुनाथराव के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिन्दूपति के गुरू हुए। उसके बाद वे जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह के आश्रय में गए, वहीं इन्हें 'कविराज शिरोमणि' की उपाधि मिली। इसके बाद भी वे जीवन भर एक राजा के आश्रय से दूसरे राजा के आश्रय में जाते रहे और सब कहीं इन्हें अतुल धन-राशि, अक्षय कीर्त्ति और सम्मान मिला। हिम्मत बहादुर के नाम पर उन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' की रचना की। जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगत सिंह के नाम पर 'जगद्विनोद' की रचना की। जयपुर में ही इन्होंने 'पद्माभरण' नामक अलंकार-ग्रंथ बनाया। सेंधिया के दरबार में भी इनका अच्छा मान था। कहते हैं वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होंने 'हितोपदेश' का भाषानुवाद किया। जीवन के अन्तिम दिनों में ये रोगग्रस्त हो गये थे। उसी समय इन्होंने 'प्रबोध पचासा' नामक विराग और भक्ति-रस से पूर्ण ग्रन्थ बनाया। अन्तिम समय निकट जानकर पद्माकरजी गंगातट पर वास करने के विचार से कानपुर चले आये और वहीं अपने जीवन के अन्तिम सात वर्ष व्यतीत किए। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गंगालहरी' की रचना इन्होंने उसी अवधि में की। इनका परलोकवास सं० १८६० में हुआ।

पद्माकर का 'जगद्विनोद' काव्य-रसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। सजीव-मूर्ति-विधान करनेवाली ऐसी कल्पना बिहारी को छोड़कर और किसी कवि में नहीं है। शुक्लजी के शब्दों में—"रीति-काल के कवियों में सहृदय-समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्व-प्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़कर दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। रीति-काल को कविता इनकी और प्रताप साहि की वाणी

द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी।"

इनकी भाषा में जैसी अनेकरूपता है वैसी केवल गोस्वामी तुलसीदासजी की भाषा में ही पायी जाती है। अनुप्रास की दीर्घ श्रृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक पद्यों में पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुन्दर कोमल भाव तरंग का स्पन्दन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ-सुथरी है। अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप से। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिदान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय गद्‌गद हो उठता है। सरस चित्रों की योजना में व्रजभाषा के कम कवि इनकी समानता कर सकते हैं। पद्माकर रीति-काव्य के अन्तिम श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी रचना का एक उदाहरण :—

फागुन की भीर, अभी दिन में गहि गोन्विदै लै गई भीतर गोरी।
माई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

ग्वाल कवि :—इनका कविता-काल सं० १८७९ से सं० १९१८ तक माना गया है। ये मथुरा के रहनेवाले बन्दीजन सेवाराम के पुत्र थे। इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों का भ्रमण किया था, जिससे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बोलियों का इन्हें अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होंने ठेठ पूर्वी हिन्दी, गुजराती और पंजाबी में भी कुछ कवित्त, सवैये लिखे हैं। फारसी और अरबी शब्दों का इनकी भाषा में अधिक प्रयोग हुआ है। ये एक कुशल कवि थे। इनकी रचनाएँ—यमुनालहरी, रसिकानंद, रसरंग, कृष्णजी को नख-सिख, दूषण दर्पण, हम्मीरभट, गोपि-पच्चीसी और भक्तभावन हैं। रीति-काल की प्रवृत्ति इनकी इतनी तीव्र थी कि

"यमुनालहरी' नामक देवस्तुति में भी इन्होंने नव रस और षट्ऋतु का वर्णन किया है। इनकी भाषा चलती और व्यवस्थित है।

प्रतापसाहि :—इनका कविता-काल सं० १८८० से सं० १९०० तक माना जाता है। ये चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे और रतनेस बंदीजन के पुत्र थे। इनके ग्रन्थ—व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्य-विलास, जयसिंह प्रकाश, शृंगार मंजरी, शृंगार शिरोमणि, अलंकार चिन्तामणि, काव्य-विनोद, रसराज की टीका, रत्न चन्द्रिका, जुगल नख-शिख तथा बलभद्र-कृत नख-शिख की टीका है।

ये कवि और आचार्य दोनों थे। शुक्लजी ने लिखा है—"आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से उन्होंने उनके चलाये हुए कार्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा, व्यंजना का उदाहरणों द्वारा विस्तृत निरूपण पूर्ववर्ती तीनों कवियों ने नहीं किया था। इन्होंने व्यंजना के उदाहरणों की एक अलग पुस्तक की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के नाम से रची।

इनकी भाषा का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है। उसमें न कहीं कृत्रिम आडम्बर है, न गति-शैथिल्य और न शब्दों की तोड़-मरोड़। इनकी रचनाओं में सफाई और सरसता दोनों है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"प्रतापसाहि के जीवनकाल में ही नवीन युग सिर उठा रहा था। साहित्य में क्रान्ति परिवर्तन के साधन देश में आ गए थे और नवीन उन्मेष के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। रीतिग्रंथ लिखने की परिपाटी थोड़ी-बहुत बाद में भी जीती रही, पर वह साहित्य की मुख्य प्रेरक शक्ति नहीं रह गई और इसीलिये प्रतिभाशाली कवियों को आकृष्ट नहीं कर सकी।"

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त रीतिकाव्य के और भी अनेक कवि हैं, जिनमें मंडन, राम, श्रीधर या मुरलीधर, कवीन्द्र (उदयनाथ), वीर, कृष्णकवि, अलीमुहिब खाँ प्रीतम, भूपति, दलपति राय, सोमनाथ,

रघुनाथ, ऋषिनाथ, बैरीसाल, रतन कवि, नाथ, चंदन, देवकीनन्दन, महाराज रामसिंह, थानकवि, बेनीप्रवीन, यशोदानन्दन, रसिक, गोविंद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्थानाभाव से सबका परिचय नहीं दिया जा सका है।

रीतिमुक्त धारा के प्रमुख कवि

रीतिकाल के अन्तर्गत कवियों की दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी में वे कवि हैं जिन्होंने रीति-ग्रंथों की रचना की है। उनका वर्णन पिछले प्रकरण में हो चुका है। इस प्रकरण में द्वितीय श्रेणी के कवि आते हैं जिन्होंने रीति-ग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबन्ध काव्य की रचना की है, कुछ ने नीति या भक्ति-ज्ञान सम्बन्धी पद्य और कुछ ने शृङ्गार रस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं। ये कवि रीति-कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलङ्कार के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृङ्गार रस के फुटकल पद कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इन कवियों में घनानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं।

सबलसिंह चौहान :—ये इटावे के किसी गाँव के जमींदार थे। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहों-चौपाइयों में लिखी है। यह एक बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसकी रचना सं० १७१८ से सं० १७८१ के बीच हुई। इसके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं—ऋतुसंहार और रूपविलास।

वृंद :—ये जोधपुर के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह के गुरू थे। इन्होंने संवत् १७६१ में 'वृंद सतसई' की रचना की, जिसमें नीति के ७०० दोहे हैं। इनके दो ग्रंथ और हैं—शृङ्गार शिक्षा और भावपञ्चाशिका; किन्तु इनकी ख्याति 'वृंद सतसई' के कारण ही है।

बैताल :—ये बंदीजन थे और राना विक्रमसाहि की सभा में रहते थे। शुक्लजी ने इनका समय संवत् १८३९ और सं० १८८६ के बीच माना है, किंतु 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्मकाल सं० १७३४ लिखा हुआ है। बैताल ने गिरधर राय के समान नीति की कुंडलियों की रचना की है और प्रत्येक कुंडलियाँ विक्रम को सम्बोधन करके कही है।

आलम :—इनके सम्बन्ध में जनश्रुति है कि ये जाति के ब्राह्मण थे, पर शेख नाम की रङ्गरेजिन के प्रेम में फँसकर पीछे से मुसलमान हो गये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। उन्हें शेख से जहान नाम का एक पुत्र भी हुआ।

कहते हैं कि आलम ने एक बार शेख को पगड़ी रँगने को दी जिसकी खूँट में भूल से कागज का चिट बँधा चला गया। उस चिट में दोहे की एक पंक्ति लिखी थी—"कनक छुरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।" शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी। उसने दोहे को पूरा किया—'कटि का कञ्चन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन" और उसे फिर पगड़ी की खूँट में बाँधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के प्रेमी हो गए और अंत में उससे विवाह कर लिया।

शेख बहुत ही चतुर और हाजिरजवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्जम ने हँसी में शेख से पूछा—"क्या आलम की औरत आप ही हैं?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहान की माँ मैं ही हूँ।"

आलम औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठे। आलम का कविता-काल सं० १७४० से सं० १७६० तक माना जाता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से निकला है। इनके और भी बहुत स्फुट रचनाएँ हैं। 'आलमकेलि' में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम की रचनाओं में हृदयतत्त्व की प्रधानता है। प्रेम की

तन्मयता की दृष्टि से आलम की रचनाएँ 'रसखान' और 'घनानन्द' की कोटि में आती हैं।

लाल कवि :—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था। ये बुन्देलखंड के रहनेवाले थे। ये महाराज छत्रसाल के आश्रय में रहते थे। उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने उनका जीवन-चरित्र दाहों-चौपाइयों में लिखा है। इस पुस्तक में छत्रसाल का सं० १७६४ तक का ही वृत्तांत आया है, इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रन्थ अधूरा ही मिला है अथवा लालकवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व ही हो गया था। जो हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्र-प्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इनका 'विष्णु-विलास' नामक एक दूसरा ग्रंथ भी है।

घन आनंद या आनंद घन :—इनका जन्म सवत् १७४६ के लगभग माना जाता है। इनकी मृत्यु संवत् १७९६ में हुई। ये जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीर मुंशी थे। शुक्लजी ने इन्हें 'साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तंभों में' एक माना है। जनश्रुति है कि मुहम्मद शाह के यहाँ एक सुजान नाम की वेश्या रहती थी जिससे घन आनंद को प्रेम था। एक दिन दरबार मे कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। फिर लोगों के कहने पर बादशाह ने सुजान से आग्रह करवाया। सुजान के आग्रह को घनआनंद नहीं टाल सके। उन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर तो बहुत खुश हुए, किन्तु इनकी बेअदबी पर बहुत नाराज भी और उन्हें शहर से निकल जाने की आज्ञा दी। जब ये शहर छोड़कर जाने लगे तब सुजान से भी साथ चलने का आग्रह किया, किन्तु वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हुआ और ये वृंदावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गए। कुछ लोग इस कथा के दूसरे अंश को दूसरे प्रकार से बताते हैं। उनके अनुसार सुजान घनआनंद के साथ

जाना चाहती थी, लेकिन बादशाह ने उसे जबरन रोक लिया। यही कारण है कि अन्त तक घन आनंद सुजान के नाम को न भूल सके।

घन आनंद के जीवन के अंत की भी एक कथा है। संवत् १७९६ में नादिरशाह जब लूट-पाट मचा रहा था तो मथुरा में उसके सैनिकों से कुछ लोगों ने कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है, उसके पास बहुत धन होगा। इस पर सैनिकों ने घन आनंद का आ घेरा और 'जर जर जर' (अर्थात् धन, धन, धन, लाओ) चिल्लाने लगे। घन आनंदजी ने शब्द को उलट कर 'रज, रज, रज' कहकर तीन मुट्ठी धूल उनपर फेंक दी। उनके पास सिवा उसके और था ही क्या ! सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। कहते हैं मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह अंतिम कवित्त लिखा :—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अखरनि भरहैं उठि जान को।
कहि-कहि आवन छबीले मन भावन को,
गहि-गहि राखति ही दै-दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत छन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घन आनंद ने सुजानसागर, विरह लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड नामक ग्रंथों की रचना की। इन पुस्तकों के अतिरिक्त भी इनके अनेक स्फुट कवित्त-सवैये मिलते हैं। कृष्णभक्ति पर भी अनेक पद मिलते हैं। ये पद 'बानी' नाम के ग्रंथ में संगृहीत है।

शुद्ध ब्रजभाषा लिखने में इनके समान सफलता बहुत कम कवियों को प्राप्त हुई है। इनकी रचनाओं में भाषा की शुद्धता, प्रौढ़ता तथा माधुर्य तीनों गुणों का समावेश है। ये वियोग शृङ्गार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। इनकी कविताओं मे 'सुजान' शब्द का प्रयोग, शृङ्गार में

नायक के लिए और भक्ति-भाव में कृष्ण के लिए हुआ है। प्रेम-दशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिंदी के किसी अन्य शृङ्गारी कवि में नहीं।

घनानंद ने बिहारी के समान विरहताप को न तो बाहरी मान से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—बाहर से वह वियोग प्रशांत और गम्भीर है। घन आनंद ने भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और प्रयोगवैचित्र्य की जो छटा इनमे है, वह इनके समकालीन किसी कवि में नहीं। इनकी रचना का एक उदाहरण :—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुंदरता सरसौ॥
घन आनंद जीवन दायक हौ, कबौं मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवान कौ लै बरसौ॥

महाराज विश्वनाथ सिंह :—ये रीवाँ के नरेश थे। ये बड़े साहित्य मर्मज्ञ थे तथा कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। शुक्लजी ने इनके लिखे ३२ ग्रन्थों की चर्चा की है। ब्रजभाषा में सबसे पहले-पहल नाटक की रचना इन्होंने ही की। इनका लिखा 'आनंद रघुनंदन' नाटक हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है। ये अच्छे कवि थे। संवत् १७७० से संवत् १९११ तक इनका कविता-काल माना जाता है।

भक्तवर नागरीदासजी :—ये कृष्णगढ़ के नरेश थे और इनका नाम सावंतसिंह था। इनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था। इनकी उपपत्नी 'वणीठणी' जी भी कवियित्री थीं। नागरीदासजी बड़े भक्त जीव थे। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१९ तक माना जाता है। इन्हें वृन्दावन से अपार प्रेम था। सं० १८१४ में इन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप दिया और स्वयं वृन्दावन आकर रहने

लगे। कृष्णगढ़ में इनकी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें संगृहीत हैं। ये पुस्तकें छोटी-छोटी हैं। इनके पदों में कहीं-कहीं भावों की सुन्दर व्यंजना है। कालगति के अनुसार फारसी काव्य की आशिकी और सूफियाना ढंग भी इन्होंने दिखाया है। इनकी भाषा सरस और चलती है।

चाचा हित वृंदावनदास :—इनका जन्म संवत् १७६५ में हुआ था। ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे। ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के गोस्वामी हितरूपजी के शिष्य थे। इनका कविता-काल संवत् १८०० से १८४४ तक माना जाता है। ये पहले नागरीदासजी के भाई बहादुर सिंह के आश्रय में रहते थे, बाद में वृन्दावन में रहने लगे। इनके सम्बन्ध में एक लाख पद बनाने की जनश्रुति है। छत्रपुर के राजपुस्तकालय में इनकी बहुत-सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

गिरिधर कविराज :—इनके सम्बन्ध में कुछ भी वृत्तांत ज्ञात नहीं है। संवत् १९६५ में खेमराज श्रीकृष्णदास ने इनकी 'कुण्डलियों' का संग्रह प्रकाशित कराया था, जिसकी प्रस्तावना में प्रकाशक ने गिरधरजी का नाम हरिदास बताया है और उन्हें उदासीन साधु कहा है। उसमें इनका समय १८वीं शताब्दी माना गया है। ये पंजाब के रहनेवाले थे तथा गंगातीर पर विचरण किया करते थे। ये आशु कवि थे। अपने भावों को कुण्डलिया छंद में कहते थे। इनके छन्दों का संग्रह अन्य महात्माओं के द्वारा ही हुआ है, ये स्वयं नहीं लिखते थे। इनकी नीति की कुण्डलियाँ गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हैं। ये अपने भावों को सीधे-सादे ढंग से कहा करते थे, अतः इनकी भाषा में कोई सजावट नहीं है।

सूदन :—ये मथुरा के माथुर चौबे थे। ये भरतपुर के महाराज सुजानसिंह के आश्रय में रहते थे। उन्हीं के चरित्र को लेकर इन्होंने 'सुजान चरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की है। यह एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें सं० १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इसमें अध्याय के स्थान पर 'जंग' शब्द का प्रयोग है। ग्रन्थ ७ जंगों में समाप्त है।

भाषा की दृष्टि से हम इन्हें सफल कवि नहीं कह सकते। भाषा में पंजाबी तथा खड़ी बोली का भी पुट है।

बोधा :—ये बाँदा जिले के राजापुर नामक गाँव के रहनेवाले सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनका नाम बुद्धिसेन था। ये बचपन से ही पन्ना दरबार में रहने लगे थे, जहाँ इनके सम्बन्धियों का बड़ा सम्मान था। पन्ना के महाराज इन्हें प्यार से 'बोधा' कहकर पुकारते थे। ये संस्कृत और फारसी के भी अच्छे विद्वान थे। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इनका जन्म सं० १८०४ में हुआ था।

इनके सम्बन्ध में जनश्रुति है कि पन्ना दरबार में रहनेवाली सुभान नामक एक वेश्या से इन्हें प्रेम था। जब महाराज को इनके प्रेम का पता चला तो उन्होंने ६ महीने के लिए इन्हें अपने राज्य से निकाल दिया। वियोग की अवधि इनकी बड़े कष्ट में बीती। उसी अवधि में इन्होंने 'विरहवारीश' नामक एक पुस्तक की रचना की। ६ महीने के बाद जब ये दरबार में लौटे तो महाराज को 'विरहवारीश' ग्रंथ पढ़कर सुनाया। महाराज ने प्रसन्न होकर इनको कुछ माँगने को कहा। इन्होंने कहा—"सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान को इन्हें दे दिया।

'विरहवारीश' के अतिरिक्त इनकी दूसरी रचना 'इश्कनामा' है। ये अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। ये भावुक और रसज्ञ कवि थे। "आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए" इन्हीं के कवित्त की पंक्ति है।

ठाकुर (बुंदेलखंडी) :—ठाकुर नाम के दो और कवि हो चुके हैं। वे असनी के थे। तीसरे ठाकुर कवि का जन्म सं० १८२३ में बुन्देलखंड में हुआ था। इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। ये कायस्थ थे। ये जैतपुर के राजा परीछत सिंह के आश्रय में रहते थे। एकबार ये बाँदा के हिम्मतबहादुर गोसाँई के दरबार में गये थे। वहीं पद्माकरजी भी रहते थे। दोनों में प्रायः नोक-झोंक की बातें हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकरजी ने कहा—"ठाकुर कविता तो अच्छी

करते हैं, पर पद कुछ हलके पड़ते हैं।" इस पर ठाकुर बोले, "तभी तो हमारी कविता उड़ी फिरती है।"

एक बार हिम्मतबहादुर ने किसी कारण से क्रुद्ध होकर ठाकुर को कुछ कटु बातें कहीं। जनश्रुति है कि ठाकुर ने तत्क्षण म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरकें।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गये और बोले—"कविजी, बस! मैं तो यही देखना चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिम्मत भी आप में है।" इस पर ठाकुर ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—"महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है, आज हिम्मत कैसे गिर जायगी।"

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। ये प्रधानतः प्रेम-निरूपक होने पर भी लोक-व्यवहार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इनके सवैये बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके पदों का एक संग्रह 'ठाकुर-ठसक' के नाम से प्रकाशित है। इनकी मृत्यु संवत् १८८० के आस-पास हुई।

बाबा दीनदयाल गिरि:—इनका जन्म सं० १८५६ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक पाठक के घर हुआ था। ये महंत कुशागिरि के साथ रहते थे। ये संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे।

ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास के अनन्य मित्र थे। इनकी मृत्यु सं० १६१५ में हुई। इनकी रचनाएँ—अन्योक्ति-कल्पद्रुम, अनुराग बाग, वैराग्यदिनेश, विश्वनाथ नवरत्न और दृष्टान्त तरंगिणी हैं। इनका भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार था। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत की है। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था। शुक्लजी ने इन्हें बहुरंगी कवि कहा है। इनका परलोकवास सं० १६१५ में हुआ।

गिरिधरदास :—ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता थे। इनका नाम बाबू गोपालचन्द्र था, उपनाम गिरधरदास था। इनका जन्म सं० १८६० में हुआ था। ये काशी के बड़े प्रतिष्ठित रईस थे। भारतेन्दु ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—"जिन श्री गिरिधरदास कवि के रचे ग्रन्थ चालीस।" किन्तु इनकी केवल १८ ग्रंथों का पता है। इनका परलोकवास सं० १६१७ में हुआ। इनकी रचनाओं में चमत्कार पर अधिक ध्यान रखा गया है।

इन कवियों के अतिरिक्त रीति-मुक्तधारा के और भी कवि हुए हैं, जिनमें—बनवारी, सदलसिंह चौहान, जोधराज, बख्शी हंसराज, जनकराज, किशोरीशरण, भगवतरसिक, श्री हठीजी, गुमान मिश्र, सरयू-राम पण्डित, भगवन्तराय खीची, ब्रजवासीदास, रामचन्द्र, मंचित, मधुसूदनदास, असनीवाले ठाकुर, ललकदास, चन्द्रशेखर, पजनेस, द्विजदेव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्थानाभाव से सबका परिचय दिया नहीं जा सका है।

प्रकरण—१०

आधुनिक काल

नवजागरण का काल

संवत् १९००—

साहित्य में आधुनिकता की आरम्भिक सीमा निश्चित करना कठिन होता है। कुछ विद्वान् हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म-काल सन् १८५० ई० से मानते हैं और कुछ विद्वान् सन् १८५७ ई० के विप्लव के बाद से। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन् १८०० ई० के बाद से आधुनिक काल का प्रारम्भ माना है और शुक्लजी ने सं० १९०० के बाद से माना है। मेरे विचार से आधुनिक काल का प्रारम्भ सं० १९०० से मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि यह संवत् भारतेन्दु के जन्म-काल के भी निकट है और भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम के भी आसपास है। ऐसे तो साहित्य में किसी युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारम्भ किसी निश्चित् तिथि से नहीं होता और न दो युगों की सीमाएँ ही इतनी स्पष्ट रहती हैं कि वहाँ से दोनों को अलग-अलग विभाजित किया जा सके। इस स्थिति में विद्वानों के विचारों सर्वमान्यता का प्रश्न आता है। अगर सभी विद्वान् किसी एक निश्चित् मत से सहमत नहीं होकर एक दूसरे की निर्धारित काल-सीमा को घटाना-बढ़ाना प्रारम्भ कर दें तो उससे हम न तो किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं और न किसी युग या काल की सीमा ही निर्धारित हो सकती है। अतः आधुनिक-काल का प्रारम्भ सं० १९०० के बाद से मानना ही समीचीन है।

आधुनिक युग भारतीय साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण और नये सिद्धान्तों का युग है; एक नवीन समाज-व्यवस्था का वह प्रतिनिधि और परिचायक है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो नवीन शासन-प्रणाली और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंगमंच पर प्रवेश कर रहा था। आधुनिक साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्य-वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का फल है।

हिन्दी का प्राचीन साहित्य विशेष रूप से काव्य-साहित्य था। आधुनिक युग के हिन्दी-साहित्य में भी काव्य की विभिन्न नई शैलियों का अभूतपूर्व विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य का उद्भव और विकास है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, पत्र-पत्रिका आदि सब रूपों का आविर्भाव और विकास आधुनिक युग में ही हुआ। इस युग का साहित्य जीवन से ओत-प्रोत है।

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं, याता-यात के समुन्नत साधना पुराने साहित्य से नवीन साहित्य का प्रधान अन्तर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने का अवसर कम पाती थीं। राजाओं की कृपा, विद्वानों की गुणग्राहिता, विद्यार्थियों के अध्ययन में उपयोगिता इत्यादि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया। प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस हो जाने के बाद उसकी उपयोगिता बढ़ गई और विविध विषयों की जानकारी देनेवाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया।"

आधुनिक युग का साहित्य खड़ी बोली का साहित्य है। खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी-कविता में पहले भी खुसरो, गंग, सीतल, कबीर

आदि कवियों ने किया था, किन्तु अब पहली बार खड़ी बोली पूरे हिन्दी प्रदेश की भाषा बनी। भारतेन्दु के युग में खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ। किन्तु पद्य में ब्रजभाषा ही बनी रही। खड़ी बोली का परिष्करण और पद्य में प्रयोग महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में हुआ और उसका अलंकरण छायावाद युग में।

इस युग में खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों की भाषा बन गई है। दोनों के विकास में सफलता भी अत्यधिक मिली है। हिन्दी-साहित्य का सर्वांगीण विकास जितना इस युग में हुआ उतना किसी युग में नहीं।

इस काल को मैंने 'गद्य-खण्ड' और 'पद्य-खण्ड' दो भागों में बाँट दिया है। दोनों का स्वाभाविक विकास दिखाते हुए मैंने संक्षेप में मुख्य प्रवृत्तियों की चर्चा भी कर दी है तथा मुख्य कवियों और लेखकों का भी परिचय दे दिया है।

गद्य-खण्ड

हिन्दी गद्य का विकास

ब्रजभाषा गद्य

आधुनिक युग के पूर्व इस देश के साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही प्रधान रूप से रही। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी-सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिन्दी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रन्थ मिले हैं, जिनका निर्माण-काल सं० १४०७ के आस-पास है। इन पुस्तकों में एक गद्य ग्रन्थ भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिवा' 'कहिवा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इसके गद्य को हम सं० १४०० के आस-पास के ब्रजभाषा—गद्य का नमूना मान सकते हैं।

उपर्युक्त विचार शुक्लजी के हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उस गद्य-ग्रंथ की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि "उसकी भाषा को देखकर इधर सन्देह प्रकट किया जाने लगा है कि वह सचमुच ही इतना पुराना है या नहीं। अधिक संभव यही जान पड़ता है कि वह बहुत बाद का लिखा है। इस पुस्तक की भाषा में 'पूछिवा' 'कहिवा' जैसे प्रयोगों को देखकर स्वर्गीय आचार्य शुक्ल ने यह अनुमान किया था कि इसका लेखक राजस्थान का निवासी रहा 'होगा और इन्हीं प्रयोगों को देखकर कुछ बंगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है। यह अद्भुत

विरोध है। परन्तु इस बात में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है कि नाथपंथी साधकों की भाषा में अनेक स्थानों की भाषा के चिह्न हैं।

इन विरोधों के रहते हुए भी अभी उसी ग्रन्थ को हिन्दी के गद्य का प्राचीनतम रूप माना जाता है।

इसके उपरांत हमें भक्तिकाल में कृष्ण-भक्ति शाखा के भीतर गद्य ग्रंथ मिलते हैं। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलदासजी ने 'शृंगाररस-मंडन' नामक एक ग्रंथ ब्रजभाषा मे लिखा। उनकी भाषा का स्वरूप यह है—"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि के इनके मन्द हास्य ने जीते हैं।" आदि—। इसका गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है।

इसके पीछे दो और साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखे गए जो बड़े भी हैं और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित है। वल्लभ सम्प्रदाय में इनका अच्छा प्रचार है। इनके नाम हैं—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इन ग्रन्थों के लेखक वल्लभ के पौत्र गोकुलनाथ बताए जाते हैं। पर ये ग्रन्थ गोकुलनाथ के किसी शिष्य के लिखे जान पड़ते हैं, क्योंकि इनमें गोकुलनाथजी का कई स्थानों पर बड़ी भक्ति एवं श्रद्धा के साथ उल्लेख है। इनमें वैष्णव भक्तों और आचार्य जी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है। इन वार्ताओं की कथाएँ बोलचाल की ब्रजभाषा में लिखी गई हैं जिसमें कहीं-कहीं बहुत प्रचलित अरबी-फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण—"सो श्री नन्दगाम में रहतो सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो, ऐसो वाके नेम हतो।"

इन पुस्तकों की भाषा काफी व्यवस्थित है। यद्यपि उसमें लम्बे और जटिल वाक्य-गठन का प्रयत्न नहीं है, तथापि उनके प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों से चरित्र-नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रंगों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।

सं० १६६० के आस-पास नाभादासजी ने 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा गद्य में लिखी, जिसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है।

सं० १६८० के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने, जो ओरछा के महाराज जसवन्तसिंह के यहाँ थे, ब्रजभाषा गद्य में 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' नाम की दो छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं।

ब्रजभाषा में लिखा एक नासिकेतोपाख्यान भी मिला है जिसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। समय सं० १७६० के उपरान्त है।

सूरति मिश्र ने लगभग सं० १७६० के आस-पास संस्कृत से कथा लेकर बैताल-पचीसी लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलालजी ने खड़ी बोली में लिखा। जयपुर नरेश सवाई प्रताप सिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सं० १८५२ में 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी। इसकी भाषा बोलचाल की है, जिसमें अरबी-फारसी के कुछ शब्द भी हैं। बाद में चलकर ब्रजभाषा ग्रंथ में अनेक टीका ग्रंथ लिखे गए, किन्तु शुक्लजी ने उनका 'कंथभूती' और 'इत्यमरः' टीका कहकर उपहास किया है।

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं, जिनसे गद्य का कोई समुचित विकास प्रकट नहीं होता। यह खड़ी बोली के लिए अच्छा ही हुआ। क्योंकि जिस प्रकार ब्रजभाषा गद्य का विकास हुआ उस प्रकार अगर गद्य का भी विकास होता आता तो इस शताब्दी के आरम्भ में भाषा सम्बन्धी बड़ी विषम समस्या उत्पन्न होती।

जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिए खड़ी बोली ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। शुक्लजी ने लिखा है—"भगवान् का यह भी अनुग्रह ही समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी।'

खड़ी बोली

आजकल हम लोग जिस भाषा में लिखा और बोला करते हैं उसे खड़ी बोली कहते हैं। यह खड़ी बोली मुसलमानों के आगमन के पूर्व दिल्ली और अजमेर प्रान्तों की बोली थी। उस समय न तो इसमें साहित्य की रचना होती थी और न अन्य प्रान्तों में इसका प्रचार ही था। किन्तु जब मुसलमानों ने इस देश पर अधिकार किया और उन लोगों ने अपनी राजधानी दिल्ली को बनाया तो फिर इस बोली का भाग्य चमक उठा। क्योंकि इस देश में शासन-कार्य के लिए मुसलमानों के लिए इस देश की किसी एक भाषा का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था। और चूँकि दिल्ली के आस-पास की बोली खड़ी बोली थी, इसलिए वे विदेशी शासक सर्वप्रथम इसी के सम्पर्क में आए और बाद में चलकर इसी का प्रयोग करने लगे।

इस प्रकार मुगल दरबार की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ दिल्ली के आस-पास की भाषा (खड़ी बोली) शिष्टभाषा हो गई। किन्तु इसी समय खड़ी बोली के दो रूप होने लगे। मुसलमान लोग जब खड़ी बोली का प्रयोग करते तो उसमें फारसी-अरबी के शब्दों को मिलाकर बोलते थे जिसके कारण खड़ी बोली आगे चलकर एक बिल्कुल नए ढाँचे में ढलने लगी और उसका नाम लोगों ने पहले 'रेखता' फिर उर्दू रख दिया। किन्तु दूसरी ओर जब यहाँ के पंडित लोग तथा अन्य पढ़े-लिखे लोग खड़ी बोली का प्रयोग करते तो उसमें प्रायः तत्सम

संस्कृत शब्दों को मिलाकर बोलते जिससे खड़ी बोली का दूसरा रूप विकसित हुआ जिसको बाद में चलकर लोग 'हिन्दवी' और फिर हिन्दी कहने लगे। अतः स्मरण रखना चाहिए कि उर्दू तथा हिन्दी दोनों की जननी खड़ी बोली ही थी।

शुक्लजी ने लिखा है कि "कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परम्परागत साहित्य की—जो सं. १९०० के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रान्तों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका अधिक व्यवहार नहीं हुआ।

अतः यह निर्विवाद है कि खड़ी बोली मुसलमानों के साथ नहीं आई, अपितु यह बहुत प्राचीन काल से ही इस देश में वर्तमान थी। भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो परम्परा चलती रही, उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। जैसे—

भला हुआ जु मारिया, बहिणि! महारा कंतु।

इतना सत्य है कि मुसलमानों के आने और देश में फैलने के पूर्व खड़ी बोली न तो शिष्ट समुदाय की भाषा बन पाई थी और न दिल्ली और मेरठ को छोड़कर उसका कहीं प्रयोग ही होता था। देश में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली। खुसरो ने वि. की १४वीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ-साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। कबीर के दोहे में भी खड़ी बोली का प्रयोग कहीं-कहीं मिल जाता है—'कबिरा मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।' अकबर के समय में गंग

कवि ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आस-पास है। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है।

शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखे थे। ये लोग इसे 'हिन्दवी' भाषा कहते थे। शाह मीरनजी बीजापुरी (मृत्यु १३४१ ई०), शाह बुरहान खान (मृत्यु १३८२ ई०) और सैयद मुहम्मद गैसूदराज (१३६८ ई०) के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं।

खड़ी बोली का प्रचार :—

मुगल दरबार की समृद्धि जब ह्रास होने लगी और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद आदि में नवाबी राजधानियाँ श्री सम्पन्न होने लगीं तो दिल्ली के शायरों तथा व्यवसायियों ने पूरब की ओर फैलना शुरू किया। उनके साथ ही दिल्ली की शिष्टभाषा सर्वत्र फैलने लगी। १८वीं शताब्दी में निश्चित रूप से दिल्ली की शिष्ट भाषा चारों ओर फैल चुकी थी। कथा और धार्मिक प्रवचनों के लिए इस नई शिष्ट भाषा का ही सर्वत्र व्यवहार किया जाने लगा। शुक्लजी ने लिखा है—अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती, यह हिन्दी खड़ी बोली है।

मुसलमान शायर प्रारम्भ में जिस प्रकार की भाषा में शायरी करते थे यह निखालिस खड़ी बोली थी। उस समय उसमें अरबी-फारसी शब्दों का किंचित् ही प्रयोग होता था। किन्तु बाद में चलकर जब उनकी संख्या अधिक हो गई तो धीरे-धीरे उसमें विदेशीपन आता गया और उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया। सन् १७६८ से १८३७ तक आते इन कवियों की रचनाओं में फारसी और अरबी का मेल अधिक हो गया। उसके पहले के कवियों की कविताओं के कुछ उदाहरण—

वली—दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥

सादी—हम ना तुमको दिल दिया, तुम दिल लिया औ दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया, यह भी जगत की रीति है॥

सौदा—मारे से वह जी उठे, बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे, हाथों-हाथ बिकाय॥

अशरफ़—पिया बिन मेरे तईं वैराग भाया है,
जो होनी हो सो हो जावे।
भभूत अब जोगियों का अंग लाया है,
जो होनी हो सो हो जावे॥

खड़ी बोली का गद्य :—इस प्रकार खड़ी बोली का प्रयोग ८वीं ९वीं शताब्दी से ही हो रहा था। किन्तु अभी तक प्राचीन काल की खड़ी बोली के जितने भी उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, सब केवल पद्य के। अकबर के समय में गंग कवि ने केवल खड़ी बोली गद्य में 'चंद छंद वर्णन की महिमा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसकी भाषा का नमूना—"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहिजी आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आप कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें।" आदि—

इस अवतरण से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती, यह हिन्दी खड़ी बोली है। खड़ी बोली गद्य की दूसरी पुस्तक जिसे हम खड़ी बोली गद्य की प्रथम परिष्कृत पुस्तक भी कह सकते हैं 'भाषा योग वासिष्ठ' है, जिसके लेखक थे 'रामप्रसाद निरंजनी'।

रामप्रसाद निरंजनी :—रामप्रसाद निरंजनी खड़ी बोली की परिष्कृत गद्य शैली में पुस्तक की रचना करनेवाले प्रथम लेखक थे। ये

पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इन्होंने संवत् १७९८ में 'भाषा योग वासिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। खड़ी बोली गद्य की उपलब्ध पुस्तकों में अभी तक यही सर्वाधिक प्राचीन है। अतः जबतक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते हैं। भाषा का उदाहरण :—"हे रामजी। जो पुरुष अभिमानो नहीं है, वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होंगे तब तुम कर्त्ता होते हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे।"

इस ग्रन्थ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लू लाल से ६२ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था।

रामप्रसाद निरंजनी के कुछ ही दिन बाद सं० १८१८ (सन् १७४१ ई०) में पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्मपुराण का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठों से ऊपर का एक बड़ा ग्रन्थ है। इनकी भाषा रामप्रसाद निरंजनी की भाषा के समान व्यवस्थित और परिमार्जित नहीं है। वह ब्रजभाषा गद्य से एकदम युक्त नहीं हो पाई है, पर वह इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई सम्पर्क न रखनेवाली अधिकांश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी।

संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने मंडोवर का वर्णन लिखा था जिसकी भाषा साधारण बोलचाल की है।

रीतिकाल के समाप्त होते-होते अंगरेजी राज्य देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः अंगरेजों के लिए यहाँ की भाषा सीखने

का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और जो उर्दू कहलाने लगा था। अंगरेज यद्यपि विदेशी थे, पर उन्हें स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं, वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसीलिए जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिन्दी की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं न हिन्दी में थीं।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"कुछ हिन्दी इतिहासकार विद्वानों का विश्वास है कि सर जॉन गिल क्राइस्ट हिन्दी को उर्दू से भिन्न स्वतंत्र और शिष्ट भाषा मानते थे; परन्तु यह भ्रम ही है। वे उर्दू को ही शिष्ट भाषा समझते थे।

सम्वत् १८६० में फोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दी-उर्दू अध्यापक जॉन गिल क्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होने उर्दू और हिन्दी दोनों के लिए अलग-अलग प्रबन्ध किया। फोर्ट विलियम कॉलेज के आश्रय में लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इन दोनों के एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेश वाली पुस्तक और इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। अतः यह कहना कि अँगरेजों की प्रेरणा से ही खड़ी बोली-गद्य का विकास हुआ, ठीक नहीं है।

जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिन्दू व्यापारी तथा अन्य वर्गों के लोग जीविका के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों के

बोल-चाल की भाषा हो गई, उस समय से लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया।

मुंशी सदासुखलाल नियाज:—(सं० १८०३-१८८१) (ईस्वी सन् १७४६-१८२६) दिल्ली के निवासी थे। सम्वत् १८५० के लगभग ये कम्पनी की अधीनता में चुनार (मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। ये उर्दू और फारसी के अच्छे लेखक और सुकवि थे। ६५ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आए। मुंशी जी ने विष्णु पुराण से कई उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। इनकी भाषा कुछ निखरी हुई और सुव्यवस्थित है। तत्कालीन प्रचलित पंडिताऊ प्रयोग इनमें मिल जाते हैं। परन्तु यह संस्कृतमिश्रित भाषा ही उन दिनों हिन्दुओं की शिष्टजन-व्यवहृत भाषा थी, इसमें सन्देह नहीं। सदासुखलाल की भाषा में सहज प्रवाह है, वह किसी के निर्देश पर और किसी खास प्रकार की भाषा के निर्माण के उद्देश्य से नहीं लिखी गई है, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता और स्पष्टता है।

यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जवान थे, पर उन्होंने अपने हिन्दी गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु-सन्तों के बीच दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था। इसी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी को उर्दू वाले भाखा कहते थे जिसका चलन उर्दू के साथ कम होते देखकर मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—"रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।" सारांश यह कि मुंशीजी ने हिन्दुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली।

इंशा अल्ला खाँ :—(मृत्यु १८१८ ई०) दिल्ली के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे। इंशा अल्ला खाँ का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था जिसमें "हिन्दी छुट और किसी बोली

का पुट" न हो। वे 'भाखापन' अर्थात् संस्कृत-मिश्रित हिन्दी से भी बचना चाहते थे तथा अरबी और फारसी के शब्दों से भी बचना चाहते थे। किन्तु वे अपनी शैली को उर्दू-फारसी-शैली से मुक्त न कर सके।

आरम्भ काल में चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहाव्रेदार और चलती है। इनकी पुस्तक 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' है।

लल्लूलाल :—आगरे के रहनेवाले थे। इनका जन्म सम्वत् १८२० और मृत्यु संवत् १८८२ है। ये संस्कृत तथा उर्दू के साधारण विद्वान थे। सं० १८६० में फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक जॉन गिल क्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' लिखा। इनकी भाषा में ब्रजभाषा का बहुत अधिक प्रभाव है। इनकी ब्रजरंजित खड़ी बोली में वह प्रवाह नहीं है जो सदासुखलाल की भाषा में है। लल्लूलाल ने अरबी और फारसी के शब्दों से अपनी भाषा को बचाने के लिए भरसक प्रयत्न किया है, किन्तु फिर भी कहीं-कहीं ऐसे शब्द आ ही गए हैं। इनकी भाषा भक्तों की कथा-वार्ता के काम की ही अधिकतर है, नित्य व्यवहार के अनुकूल कम। एक अंगरेज अफसर ने जिसे प्रेमसागर पढ़कर हिन्दी पढ़ने का अवसर मिला था, इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि 'ऐसी थका देनेवाली भाषा मैंने कहीं नहीं देखी।'

लल्लूलाल ने हिन्दी, उर्दू और ब्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखीं। सिंहासन बतीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर इनके ग्रन्थ हैं। साथ ही 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ ब्रजभाषा गद्य में लिखी। प्रेमसागर के पहले की चार पुस्तकें उर्दू में हैं।

सदल मिश्र :—ये बिहार के आरा जिले के रहनेवाले थे। ये भी लल्लूलाल के साथ फोर्ट विलियम कॉलेज में प्राध्यापक थे। इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है। इनकी भाषा में पूरबी प्रयोग अधिक

मिलते हैं। फिर भी इनकी भाषा में अधिक प्रवाह है और वह परवर्ती साहित्य की भाषा का अच्छा मार्गदर्शक कही जा सकती है।

यद्यपि सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवस्थित और अधिक साफ तथा चुस्त है तथापि फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों को वह बहुत पसन्द न थी। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा और मुंशी सदासुख लाल की भाषा के आदर्श पर ही हुआ।

ईसाई मिसनरियाँ :—सं० १८६० के लगभग हिन्दी गद्य का प्रारम्भ तो हुआ, पर उससे साहित्य की अखण्ड परम्परा उस समय से नहीं चली। उस समय हिन्दी गद्य का रूप भी निश्चित् नहीं था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"हिन्दी-भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिसनरियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। सन् १७६६ ई० में कलकत्ते के निकटस्थ श्रीरामपुर में विलियम कैरे, मार्शमैन और वार्ड ने डेनिश मिसन की स्थापना की थी, और उसी समय से ईसाई धर्म-पुस्तकों का अनुवाद भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में होने लगा। बाईबिल का प्रथम अनुवाद कैरे का ही किया कहा जाता है।" उन लोगों ने देखा कि साधारण जनता—जिसके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना अभिष्ठ था—अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसकी बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली थी। अतएव इन ईसाई प्रचारकों ने अरबी-फारसी मिली हुई भाषा का त्याग कर विशुद्ध खड़ी बोली को अपनाया। सं० १८७५ में जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी-भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिन्दी-भाषा का ही उपयोग हुआ है। इन ईसाइयों ने स्थान-स्थान पर विद्यालय स्थापित किये। उनकी स्थापित पाठशालाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी सरल, परन्तु शुद्ध हिन्दी में लिखी गई। कलकत्ता, मिर्जापुर और आगरा में ऐसी संस्थाएँ स्थापित की गयीं, जिनका उद्देश्य ही पठन-पाठन के योग पुस्तकों का निर्माण करना था।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द :—(१८२३ ई०-१८६५ ई०) ये काशी के रहनेवाले थे तथा शिक्षा-विभाग में निरीक्षक के पद पर नियुक्त हुए थे। शिक्षा-विभाग में आने के पूर्व ही सं० १६०२ में इन्होंने 'बनारस अखबार' निकलवाया था। उस समय हिन्दी और उर्दू को लेकर एक बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। उस समय शिक्षा-विभाग में मुसलमानो का दल अधिक शक्तिशाली था जो उर्दू के समर्थक थे। अतः राजा शिवप्रसादजी ने किसी एक पक्ष का स्वतन्त्र समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन किया। पाठ्य-पुस्तकों के अभाव को दूर करने के लिए उन्होंने स्वयं पुस्तक लिखना प्रारम्भ किया तथा दूसरों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया। ये इस उद्योग में लगे थे कि लिपि देवनागरी हो और भाषा ऐसी मिली-जुली रोजमर्रा की बोल-चाल की हो कि किसी दलवाले को एतराज न हो।" इनकी पुस्तकों में 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह का वृत्तांत' 'आलसियों को कोड़ा' आदि प्रसिद्ध हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह :—(१८२६ ई०—१८६६ ई०) ये ठेठ खड़ी बोली के हिमायती थे। राजा शिवप्रसाद की 'आम फ़हम ख़ास पसंद' भाषा के ये प्रबल विरोधी थे। इनके विचार से हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी थीं। इन दोनों का सम्मेलन किसी प्रकार नहीं हो सकता—यही इनकी धारणा थी। इन्होंने कालिदास के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिसमें मेघदूत और शकुन्तला के अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए। इन पुस्तकों को लिखकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि बिना उर्दू के दलदल में फँसे भी हिन्दी में बहुत सुन्दर गद्य लिखा जा सकता है। जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य उनकी रचना में मिलता है उतना पूर्व के किसी लेखक की रचना में उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मण सिंह का स्थान तत्कालीन गद्य-साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब हिन्दी को विशुद्ध बनाने में बद्धपरिकर नहीं होते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप होता।

सर सैयद अहमद :—हिन्दी के प्रबल विरोधियों में एक सर सैयद अहमद थे। इनका अंगरेजों के बीच बड़ा मान था। ये हिंदी को एक 'गँवारी बोली' बताकर अँगरेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। हिंदी-विरोध में बल लाने के लिए इन्होंने मजहबी नुसखा भी काम में लाया। अंगरेजों को इन्होंने बताया कि हिंदी हिन्दुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की, जिनके साथ अँगरेजों का मजहबी रिश्ता है—दोनों 'सामी' या 'पैगंबरी' मत को माननेवाले हैं।

सरकार द्वारा हिंदी की उपेक्षा :—सन् १८३६ ई. तक सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी थी। सन् १८३७ ई० से वह फारसी बहुल उर्दू हो गई। धीरे-धीरे अदालतों से नागरी अक्षर का बहिष्कार हो गया। हिंदी भाषा और नागरी लिपि के लिए यह बड़े संकट का काल था। हिंदी जानने वाले की दशा शोचनीय होती गई। आगे चलकर जब कभी हिंदी की पढ़ाई की बात उठी तब उसको 'गँवारी-बोली' कहकर उसकी उपेक्षा की गई।

गार्सां दतासी :—ये फ्रांस के रहनेवाले थे और पेरिस में हिन्दुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। सं० १८६६ में उन्होंने 'हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा। पहले वे हिन्दी के कट्टर विरोधी नहीं थे। संवत् १९०९ में एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिंदी भी उर्दू के साथ-साथ उसी तरह बनी है जिस तरह वह फारसी के साथ थी।" इन्होंने सं० १९०९ के आस-पास हिंदी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक बताया था। इन्होंने कहा था-"यद्यपि मैं खुद उर्दू का बड़ा पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिन्दी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।"

किंतु आगे चलकर सर सैयद अहमद के प्रभाव में आकर ये हिन्दी के प्रबल विरोधी बन गए। एक व्याख्यान में इन्होंने कहा—"इस वक्त हिन्दी की हैसियत भी एक बोली (dialet) की सी रह गई है, जो हर गाँव मे अलग-अलग बोली जाती है।" इनकी उर्दू की तरफदारी का प्रधान कारण मजहबी रिश्ता ही था। सं० १६२७ में इन्होंने स्वयं इसे स्पष्ट करते हुए कहा भी था "मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते। पर हिंदू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

आर्यसमाज का प्रभाव :—सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। इस संस्था की स्थापना से केवल सामाजिक और धार्मिक विचारों की दुनियाँ में ही क्रान्ति नहीं आई, अपितु इसका प्रभाव भाषा और साहित्य पर भी पड़ा। स्वामीजी के अनुयायी हिंदी को आर्यभाषा कहते थे। स्वामीजी ने युगान्तर उपस्थित कर देनेवाला ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना हिन्दी में की तथा वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिन्दी दोनों मे किए। संवत् १६२० से गाँव-गाँव में घूमकर वैदिक एकेश्वरवाद पर हिन्दी में व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। युक्त प्रान्त, पंजाब तथा कई अन्य प्रान्तों में आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी-गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ।

श्रद्धाराम फुलौरी :—ये बड़े विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। संवत् १६१० के लगभग इनके व्याख्यानों और कथाओं की धूम सारे पंजाब में मची हुई थी। आर्यसमाज के आविर्भाव के पूर्व ही इन्होंने पंजाब में धार्मिक उत्साह और नवीन चेतना का संचार किया था। इन्होंने 'सत्यामृत प्रवाह' आत्मचिकित्सा, तत्वदीपक, धर्मरक्षा, उपदेश

संग्रह आदि पुस्तकों के अतिरिक्त 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास की भी रचना की थी। ये पद्य भी लिखते थे। ये अपने युग के शक्तिशाली गद्य-लेखक थे। इनकी मृत्यु संवत् १६३८ में हुई। जिस दिन उनका देहान्त हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परन्तु आज एक ही रह जायगा।" काशी के लेखक से उनका तात्पर्य भारतेंदु हरिश्चन्द्र से था।

बाबू नवीनचन्द्र राय :—पंजाब में हिन्दी का प्रचार करनेवाले विद्वानों मे नवीनचन्द्र राय का स्थान अत्यधिक महत्व का है। ये राजा राम मोहनराय द्वारा स्थापित ब्राह्म सम्प्रदाय के प्रचारक थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्व ही पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय ने हिन्दी भाषा और ब्राह्मधर्म के प्रचार का प्रयास किया था। ये उर्दू के प्रबल विरोधी थे। इन्होंने अनुभव किया था कि हिन्दी भाषा का आश्रय लेने से ब्राह्मधर्म का संदेश अधिक व्यापक हो सकेगा। स्वयं राजा राम मोहन राय भी इसी विचार के थे और उन्होंने वेदांतसूत्र का हिन्दी में अनुवाद भी किया था तथा और भी छोटो-छोटी पुस्तकों की रचना की थी। बाबू नवीनचन्द्र राय ने संवत् १६२४ में 'ज्ञानप्रदायिनी-पत्रिका' नाम की एक पत्रिका भी हिन्दी में निकाली थी। ये हिन्दी के शुद्ध रूप के पक्षपाती थे। इन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"हिन्दुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परम्परागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है।" नवीन बाबू के इस व्याख्यान की सूचना पाकर गार्सां दतासी फ्रांस में बहुत झल्लाए थे और नवान बाबू को 'कट्टर हिन्दू' कहा था। इतना ही नहीं, उहोंने वीम्स (M. Beams) को उद्धृत करते हुए यह भी कहा था कि हिंदी तो तूरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी, आर्यों ने आकर उसका नाश

किया, और जो बचे- चे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला।

हिन्दी का निश्चित रूप :—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि हिन्दी को अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए तथा रूप निश्चित करने के लिए किन-किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। इतना होने पर भी अभी तक हिन्दी का न तो कोई ऐसा रूप निश्चित हो सका था जो सर्वमान्य हो और न उसमें शुद्ध एवं मौलिक साहित्य की ही रचना हुई थी। शुक्लजी ने लिखा है—"राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिंदी-गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्ति-सम्पन्न लेखक की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—भारतेन्दु का जन्म भाद्र शुक्ल ५ संवत् १९०७ में काशी के एक सम्पन्न वैश्य कुल में हुआ। ये केवल चौंतीस वर्ष चार महीने जीवित रहे। इनकी मृत्यु माघ कृष्ण ६ संवत् १९४१ में हुई। इनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वे स्वयं भी अच्छे कवि थे और कविता में अपना नाम गिरिधरदास लिखा करते थे।

भारतेंदु एक अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। ये बचपन से ही पद्य-रचना करने लगे थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने परिवार के साथ जगन्नाथ धाम की यात्रा की थी। उसी यात्रा में बंगाल के साहित्यिक प्रगति से इनका परिचय हुआ जिससे इनको बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दी में अभी नवयुग का आरम्भ नहीं हुआ है। घर लौटने पर सं० १९२५ में उन्होंने 'विद्यासुन्दर' नाटक का बँगला से अनुवाद किया और 'कवि वचन सुधा' नाम की पत्रिका निकाली। सं० १९३० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम की दूसरी

मासिक पत्रिका निकाली। आठ अंकों के बाद इसी का नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' कर दिया। शुक्लजी ने लिखा है—"हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी चन्द्रिका से प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई० में।"

भारतेंदु ने स्वयं तो हिन्दी-भाषा और साहित्य की सेवा की ही, साथ ही औरों को भी प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा से उनके मित्रों में से अनेक हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि हुए। उनके जीवन-काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारो ओर तैयार हो गया। पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० केशवराम भट्ट, पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिन्दी साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया। अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकले।

भारतेंदु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर पड़ा। उन्होंने न केवल भाषा को एक निश्चत रूप दिया, अपितु हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा किया। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेंदु की लेखनी से ही प्रकट हुआ तथा जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद् पड़ रहा था, उसे भी उन्होंने दूर किया।

गद्य के क्षेत्र में इनका ध्यान सर्वाधिक नाटकों की ओर गया। इनके पहले केवल ब्रजभाषा में दो नाटक लिखे गए थे—महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद रघुनंदन नाटक" और बाबू गोपालचन्द्र

(भारतेंदु के पिता) का 'नहुष नाटक'। भारतेंदु ने खड़ी बोली हिन्दी में निम्नलिखित नाटकों की रचना की—

मौलिक :—वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अँधेर नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती प्रताप (अपूर्ण)।

अनुवाद :—विद्या सुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और भारत जननी।

भारतेंदु की प्रतिभा का सर्वोत्तम उपयोग नाटकों में ही हुआ है। उन्होंने नाटकों के लिए सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। किसी में देश की दशा का दर्दनाक चित्र है, किसी में पाखंडमय सामाजिक और धार्मिक जीवन पर व्यंग है, किसी में कुचक्रपूर्ण राजनीति का खाका प्रस्तुत किया गया है और किसी में आदर्श, प्रेम आदि का वर्णन है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतेंदु की सफलता के तीन रहस्य माने हैं—जीवन-प्राणधारा, अपूर्व दानशीलता और सहज व्यक्तित्व। इन तीन गुणों ने भारतेंदु को अपने युग का महा नेता बना दिया। साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम राष्ट्रीय भावना के प्रचारक भी भारतेंदु ही थे। उन्होने लिखा है—"आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

भारतेंदु की प्रतिभा बहुमुखी थी। शुक्लजी के शब्दों में—"यद्यपि सबसे अधिक रचना उन्होंने नाटकों की ही की, पर हिन्दी साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए थे, पर चल बसे। वे सिद्धवाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो इनकी लेखनी से शृंगार रस के ऐसे सम्पूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैये निकले कि उनके जीवनकाल में ही चारों

ओर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र-सा फूँकने लगीं।"

आगे शुक्लजी ने लिखा है—"अपनी सर्वतोमुखो प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवोन का यहीं सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।"

भारतेन्दु ने भाषा और साहित्य का जो आदर्श स्थापित किया, वही आगे चलकर सर्वमान्य हुआ तथा उसी का विकास भी परवर्ती साहित्य में हुआ। उनका भाषा-प्रेम इस दोहे से व्यंजित होता है—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय कौ शूल॥"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"भाषा के प्रति इस प्रकार की जागरूकता का मुख्य और क्रियात्मक रूप का कारण तो राष्ट्रीय भावना थी, किन्तु प्रतिक्रियात्मक रूप का हेतु या हिन्दी की भयंकर उपेक्षा भारतेन्दु की प्रेरणा ने हिन्दी-भाषा के आन्दोलन को वास्तविक जन-आन्दालन का रूप दे दिया। इसी जन-आन्दोलन ने हिन्दी को जन-भाषा बनाने की ओर बराबर उन्मुख बनाए रखा। भारतेन्दु की प्रेरणा से ही हिन्दी जन-भाषा बनी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु सच्चे अर्थ में युगप्रवर्त्तक व्यक्ति थे। वे युग-द्रष्टा और युग-स्रष्टा दोनों थे। परवर्ती साहित्य में जितने प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबकी उत्स-भूमि भारतेन्दु का साहित्य है। भारतेन्दु के बाद भाषा के क्षेत्र

में केवल दो कार्य बच गए थे—भाषा का शुद्धीकरण और पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग। इन अभावों की पूर्ति आगे चलकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सतत् साधना और प्रेरणा से हुई।

हिन्दी का प्रचार और परिष्कार :—हिन्दी-भाषा और साहित्य का जैसे-जैसे विकास होता गया, विद्वानों में उसके प्रचार और परिष्कार की भावना बलवती होती गई। सन् १८६३ ई० में बाबू श्यामसुन्दर दास पं० रामनारायण मिश्र और श्री ठाकुर शिवकुमार सिंह के सत्प्रयत्नों से काशी में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। इस सभा का मूल उद्देश्य हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि का प्रचार करना है। इसी सभा के आवेदन पर सं० १९५७ में (संयुक्तप्रान्त में) कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिल गया। यह हिन्दी की बड़ी विजय थी। पं० मदनमोहन मालवीय तथा अन्य महानुभावों के सत्प्रयत्नों से अदालत में उर्दू-लिपि का स्थान जब देवनागरी लिपि को मिला तब हिन्दी का प्रचार-कार्य बहुत सरल हो गया।

इतना सब कुछ होने के बाद भी भाषा के रूप के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में मतभेद था। हिन्दी में अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग को लेकर उन दिनों कई प्रकार के मत प्रचलित थे। लाला हरदयाल ने अरबी-फारसी के शब्दों को 'प्राचीन दासता के अवशेष चिह्न' माना था। मथुराप्रसाद दीक्षित संस्कृत शब्दों के पक्षपाती थे। म० पं० सुधाकर द्विवेदी हिन्दी में संस्कृत शब्दों के अधिक प्रयोग को 'कलम पकड़ने का नशा' बताते थे और उसका विरोध करते थे। कुछ लोग हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाना पसंद करते थे। इसी प्रकार वाक्य-रचना के संबंध में भी कुछ लोग अंग्रेजी की सरल गद्यशैली का अनुकरण पसंद करते थे, कुछ लोग संस्कृत की अलंकृत शैली का अनुमोदन करते थे और कुछ लोग बँगला की सरस पदावली की शैली को हिन्दी में लाना चाहते थे।

भाषा की इसी अस्थिरता की स्थिति में साहित्य के नवीन रूप का जन्म हो रहा था। इसी समय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिंदी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"उन्होंने कठोरता के साथ माँज-घिस कर भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने परुष, व्यक्तित्व और आत्मविश्वास-पूर्ण शैली के सहारे भाषा को माँजने का व्रत लिया। उनसे कम कठोर या भावुक व्यक्ति से यह कार्य नहीं हो सकता था।"

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (जन्म सं. १६२७–मृ० सं. १६६५) इनका जन्म दौलतपुर (जिला रायबरेली) में हुआ था। पहले ये रेलवे में नौकरी करते थे। बाद में नौकरी छोड़कर इन्होंने हिंदी-सेवा को ही अपना व्रत बना लिया। सं० १६६० में इन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-भार ग्रहण किया। तब से अपना सम्पूर्ण जीवन इन्होंने लिखने में ही लगाया। हिंदी-भाषा के रूप-परिष्कार का सारा श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती' पत्रिका को है। 'सरस्वती' पत्रिका हिंदी के लिए सचमुच सरस्वती प्रमाणित हुई।

हिंदी में दो कार्य अभी भी बाकी थे—भाषा का परिष्करण और पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग। हिंदी में साहित्य की रचना तो बड़ी तेजी से हो रही थी, किंतु लेखकों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से अभी भी दूषित थी। दूसरी ओर गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोग तो भारतेंदु के भी पहले से हो रहा था, किन्तु कविता की भाषा अभी भी ब्रजभाषा बनी हुई थी। द्विवेदीजी के अथक परिश्रम तथा प्राणवंत प्रेरणा से इन दोनों अभावों की भी पूर्ति हो गई।

लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझनेवाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी जी की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के

रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और गलतियों का समर्थन तरह-तरह की बातें बनाकर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।"

द्विवेदीजी ने पद्य और गद्य की भाषा को एक करने का सफल प्रयत्न किया। उस समय पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। भारतेंदु ने खड़ी बोली में कविता लिखने का प्रयास तो किया था किंतु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी थी। ब्रजभाषा के प्रेमियों का विश्वास था कि खड़ी बोली कविता के उपयुक्त नहीं है, उसमें मधुर गीतों की रचना हो ही नहीं सकती है। द्विवेदीजी ने दृढ़ता के साथ खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन किया। उनकी प्रबल प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त, नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सत्यशरण रतूड़ी, रामचरित उपाध्याय आदि अनेक कवियों ने खड़ी बोली में केवल रचना ही नहीं की, यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली सुंदर-से-सुंदर कविता की रचना हो सकती है। द्विवेदीजी स्वयं भी कविता और निबंध लिखा करते थे। कविता में तो इन्हें सफलता नहीं मिली, किन्तु इनके निबंधों से हिन्दी का बड़ा कल्याण हुआ।

द्विवेदी जी के समय में आकर हिन्दी का रूप अत्यन्त स्पष्ट हो गया और उसमें अभिव्यंजना की अभूतपूर्व शक्ति भी आ गई। यहीं से साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल प्रारम्भ होता है।

प्रकरण—११

हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का प्रारम्भ और विकास

हिन्दी नाटक साहित्य का आरम्भ और विकास

नाटक साहित्य की पूर्व पीठिका :—

भारत में संस्कृत नाटक-साहित्य और नाट्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और वैभवपूर्ण रही है। ईसापूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी से ही अनेकानेक नाटककार और आचार्य क्रमशः नाटक-साहित्य और नाट्यशास्त्र की परम्परा को दृढ़ और शक्तिशाली बनाने लगे थे। किन्तु ई० सन् की १२वीं शताब्दी के बाद से वह परम्परा अत्यन्त क्षीण हो गई।

हिन्दी का जन्मकाल अगर ८वीं ९वीं शताब्दी माना जाए तो कहना होगा कि तब से लेकर १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी साहित्य नाटक-साहित्य से रहित रहा। इतनी दीर्घ अवधि में साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग का अभाव विद्वानों को आश्चर्य में डाल देता है। क्या इस अवधि में जनता की रुचि नाटक की ओर थी ही नहीं? ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दृश्यकाव्य तथा नृत्यकला की ओर उच्चवर्गीय जनसमुदाय से लेकर निम्नवर्गीय जनसमुदाय तक सबकी प्रवृत्ति हमेशा से ही समान रूप से अधिक रही है। उस युग में रासलीला और रामलीला की लोकप्रियता और लोकव्यापकता का प्रधान कारण नाटक का अभाव ही कहा जाना चाहिए। उतने दिनों तक नाटक की भूख जनता

रासलीला और [illegible]लीला देखकर मिटाती रही। फिर प्रश्न उठता है कि उस अव[illegible]क की रचना क्यों नहीं हुई।

६वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक नाटकों के अभाव के निम्नलिखित कारण बताए जाते हैं :—

(१) अभिनयशालाओं का अभाव—(पं० शुक्ल)

(२) शान्तिमय वातावरण का अभाव—(ब्रजरत्नदास)

(३) जातीय उत्साह की आवश्यकता का अभाव।

(४) मुसलमान शासकों में प्रोत्साहन का अभाव।

(५) गद्य का अभाव—(गुलाब राय)

(६) युग का अनुपयुक्त वातावरण।

इन सभी कारणों से हमें हिन्दी के प्रारम्भ और मध्यकाल में नाटकों का अभाव मिलता है।

आरम्भ :—

इतिहास की दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि हिन्दी-नाटक का जन्म भारतेन्दु युग के पहले ही हो गया था। भारतेन्दु युग से पूर्व की लगभग पाँच शताब्दियों में कम-से-कम दो दर्जन ऐसी रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें हिन्दी भाषा के नाटक की संज्ञा दी गई। किंतु उन सभी कृतियों में विचारणीय एक-दो ही हैं। उनमें से कई संस्कृत नाटकों के अनुवादमात्र हैं, और कई प्रबन्ध-काव्य हैं। उदाहरण के लिए जोधपुर नरेश स्वर्गीय जसवन्त सिंह द्वारा लिखित प्रबोध चन्द्रोदय (लगभग १६४३ ई०), हनुमन्नाटक, अभिज्ञान शाकुन्तलं आदि संस्कृत नाटकों के भाषानुवाद हैं।

अन्य कृतियाँ, यथाः—केशवदास कृत 'विज्ञानगीता', बनारसीदास कृत 'समयसार', गुरु गोबिंदसिंह कृत 'चण्डी चरित्र', आनंद कृत 'नाटकानंद', रघुराम नागर कृत 'समासार', कृष्णजीवन लछीराम कृत 'करुणा भरण', लाल झा कृत 'गोरी परिणय', हरिराम कृत 'जानकी-राम चरित्र', गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न नाटक', भानु झा कृत 'प्रभावती

हरण', हर्षनाथ झा कृत 'उषा हरण' तथा और भी अनेक ग्रंथ हैं जिनमें नाटकीय सम्वाद-योजना होने के कारण ही उन्हें नाटक मान लिया गया। किंतु वस्तुतः हम इन ग्रंथों को नाटक नहीं कह सकते।

भारतेंदु के पूर्व हिंदी में केवल दो मौलिक नाटक लिखे गए। प्रथम 'आनंद रघुनंदन' और दूसरा 'नहुष'। आनद रघुनंदन की रचना रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह (१६६१ ई०–१७४० ई०) ने की। इसका रचना-काल लगभग १७०० ई० माना जा सकता है। दूसरा नाटक 'नहुष' है जिसके लेखक भारतेंदु के पिता गिरिधरदास थे। इसका रचना-काल १८५७ ई० है।

आनन्द रघुनन्दन :—आनंद रघुनंदन नाटक संस्कृत नाट्य विधान शैली से स्वभावत या अधिक प्रभावित है। इसमें रंगमंच के संकेत भी संस्कृत भाषा में दिये गए हैं। सात अंकों के इस नाटक की कथा पौराणिक अर्थात् ख्यात् है। संस्कृत नाट्य परम्परा के प्रतिकूल इस नाटक में प्रत्येक अंक में कई दृश्य हैं। हास्य के लिए विदूषक की योजना की गई है। नायक जगत-हितकारी राम हैं तथा प्रतिनायक रावण है। गीतों एवं छंदों के बाहुल्य के कारण वस्तुप्रवाह अत्यन्त मंद है। कलात्मकता की दृष्टि से हम इसे सफल नाटक नहीं कह सकते, किंतु हिंदी साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक होने का गौरव अभी उसे ही प्राप्त है।

नहुष :—नहुष की मूलप्रति उपलब्ध नहीं है। इसीलिए वह ग्रंथ अप्राप्य है। केवल 'कवि-वचन-सुधा' प्रथम वर्ष, प्रथम अंक की प्रति में प्रकाशित नाटक का प्रथम अंकमात्र ही उपलब्ध है। प्रस्तावना सहित प्रथम अंक से संस्कृत नाट्यशास्त्र के पालन का आग्रह स्पष्ट प्रगट हो जाता है। शेष भाग की अप्राप्ति की दशा में यह जानना संभव नहीं कि भारतीय नाट्य विधान के पालन में नाटककार कहाँ तक सफल हो सका है।

भारतेन्दु-युग—(१८५० ई० से १८८५ ई०)

हिंदी नाटक का प्रथम व्यवस्थित रूप भारतेन्दु से आरम्भ होता है। इन नाटकों को हम आनेवाली नाट्य परम्परा की पृष्ठभूमि के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर भारतेन्दु को हिंदी नाटक का जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त है वहीं हमें यह भी मानना होगा कि हिंदी नाटकों का वास्तविक रूप आगे चलकर ही विकसित हुआ। भारतेंदु ने अपने स्वर में यथासम्भव नवीनता भरने का प्रयास किया, पर वे पूर्णतया परम्परा से मुक्त न हो सके। किसी संस्थापक, युगप्रवर्त्तक की जो सीमाएँ और विशेषताएँ होती हैं, वे भारतेंदु में हैं। इसी कारण उनमें आधुनिकता कम है।

भारतेन्दु ने लगभग संवत् १६२५ में अपना कृतित्व प्रारम्भ किया और केवल १५-१६ वर्षों में ही रत्नावली, विद्यासुंदर, प्रवास नाटक, पाखण्ड विडंबनजय, विजय वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, मुद्राराक्षस, प्रेमयोगिनी, सत्य हरिश्चंद्र, कर्पूर मंजरी, विषस्य विषमौषधम, भारत दुर्दशा, चंद्रावली, भारत जननी, दुर्लभ बंधु, नीलदेवी, अंधेर नगरी, सती प्रताप आदि मौलिक और अनूदित नाटक हिंदी को दिए। उन नाटकों की प्रेरणाभूमि और विषय-वस्तु दोनों में विविधता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से पात्र चुने गए हैं अथवा विश्व के असंख्य प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया गया है, किंतु भारतेंदु ने अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति के साथ ही अपने मानस को अभिव्यक्ति दी है। मन से वे वैष्णवमार्गी प्रेममूलक कलाकार थे, पर समय की माँग उन्हें राष्ट्रीय-भावना की ओर ले गई। मानसिक परितोष के साथ ही भारतेंदु अपने सामाजिक दायित्व का भी निर्वाह करना चाहते थे। इसी कारण एक ओर जहाँ भारत दुर्दशा, भारत जननी, विषस्य विषमौषधम् जैसे देशप्रेम एवं राष्ट्रीय भावना से भरे नाटक हैं, वहीं विद्यासुंदर और चंद्रावली जैसी प्रेम और शृंगार से ओतप्रोत कृतियाँ भी।

भारतेंदु को हिंदी नाटक कोई परम्परा उत्तराधिकार में नहीं मिला था। उन्होंने संस्कृत-बंगला नाटकों से प्रेरणा प्राप्त की थी, पर हिंदी रंग-मंच के अभाव में वे उसका भी पूर्ण उपयोग न कर सके। युगसंधि पर खड़े भारतेंदु ने संक्रांतिकाल में हिंदी नाटकों को जन्म दिया और उसे जनसम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया। इसके लिए इतिहास सदैव उनका ऋणी रहेगा। उन्होंने कई अन्य दृष्टियों से भी आगे बढ़ने का प्रयास किया। जनता की रुचि को परिष्कृत किया जिसे व्यावसायिक कम्पनियों ने विकृत कर दिया था। अपने अंगों द्वारा समाज पर प्रहार किए। राष्ट्रीय भावना की सहायता से भावभूमि को स्वच्छ बनाया, किंतु भारतेंदु की शैली पूर्व परिपक्वता न प्राप्त कर सकी। उनके नाटकों में प्रस्तावना, मंगलाचरण, नंदीपाठ, भरतवाक्य आदि भी हैं। स्वगत भाषण कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो गए हैं। सत्य हरिश्चंद्र में श्मशान का वर्णन लगभग ६ पृष्ठों का है। भारतेंदु पद्य से भी नाटक को मुक्ति न दिला सके, क्योंकि दृश्य-काव्य का आदर्श उनके सामने था। गद्य और पद्य की भाषा अलग होने से भी भारतेंदु को असुविधा हुई। वे नाटकों को स्वाभाविकता के बहुत समीप न ला सके। एक समृद्ध हिंदी रंग-मंच का अभाव, जनता की विकृत अभिरुचि और इन सब के ऊपर भारतेंदु की असामयिक मृत्यु ने उनके नाटकों को आधुनिकता से कुछ दूर रक्खा है। इस युग में महाराणा प्रताप (राधाकृष्ण दास), रणधीर-मोहिमी (श्री निवासदास), भारत सौभाग्य (प्रेमधन), मयंक मंजरी (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि अन्य नाटक भी प्रस्तुत हुए, पर उनका स्तर बहुत साधारण है।

द्विवेदी युग :—भारतेन्दु के बाद नाटकों के क्षेत्र में कुछ समय तक मौन व्याप्त रहा। प्रत्येक साहित्य में इतिहास की भाँति इस प्रकार का अंधकार युग आता है जब केवल पिछली बातों को दुहराया जाता है। पुनरावृत्ति का कारण यही होता है कि उस समय कोई महान व्यक्तित्व साहित्य-क्षेत्र में कार्य करता नहीं दिखाई देता। कुछ लेखक

अनुवादों और टीकाओं से अपनी लेखनी का परितोष कर लेते हैं। नाटकों की दृष्टि से द्विवेदी युग लगभग शून्य-सा है।

वास्तव में स्वयं द्विवेदीजी भाषा का प्रतिमान स्थिर करने में व्यस्त हो गए थे। इसके लिए उन्होंने कविता का माध्यम चुना था। भावक्षेत्र में एक सुधारवादी दृष्टिकोण रखने के कारण द्विवेदी युग के साहित्यकार कोई नया क्रान्तिकारी कदम उठाने के लिए तैयार न थे। द्विवेदी युग का लेखक आदर्श की खोज करता हुआ दिखाई देता है। इसके लिए इतिहास की ओर उसने दृष्टि डाली।

इस युग में अनुवाद की ही धूम रही। मौलिक नाटक कम ही लिखे गए। हरिऔध ने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय योग' नामक दो नाटक लिखे। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भवभूति के उत्तर राम-चरित से प्रभावित होकर 'सीता बनवास' लिखा। शिवनन्दन सहाय का 'सुदामा चरित', बदलदेव मिश्र का 'प्रभात मिलन', 'मीराबाई नाटक', 'ललता बाबू' आदि इस समय की पूँजी हैं। नाटकों की विषय वस्तु प्रायः अतीत से प्राप्त की गई। पुराणों और इतिहास की सामग्री का उपयोग किया गया। जीवन का कोई संस्पर्श इन कृतियों में नहीं मिलता। ऐसा मालूम होता है कि ये नाटक केवल लिखने के लिए लिख दिए गए हैं। रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' ने मध्ययुगीन राजकुमारों पर एक लम्बा सा नाटक लिखा 'चन्द्रकान्ता भानुकुमार'। जगरनाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामने' आदि कालान्तर की रचनाएँ भी इसी क्रम में रखी जा सकती हैं। इतिहास और पुराण की कथावस्तु से हटकर जो प्रहसन लिखे गए, उनका स्तर बिलकुल साधारण है। इसी समय राधेश्याम कथावाचक, हश्र, हरिकृष्ण जौहर, आदि ने रंगमंच के लिए सस्ते नाटकों की सृष्टि की जिनमें कलात्मकता का आभास भी नहीं है।

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद के आगमन को हम हिन्दी नाटक का द्वितीय सशक्त चरण कह सकते हैं। इस अवसर पर आधुनिक हिन्दी

नाटक अपने कलात्मक विकास पर पहुँच गया। सज्जन, कल्याणी, परिणय, करुणालय, प्रायश्चित और विशाख उनकी आरम्भिक रचनाएँ हैं। राज्यश्री, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि प्रौढ़काल के नाटक हैं।

प्रसाद के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक है। वे इन नाटकों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को प्रकाश मे लाना चाहते थे। इतिहास की कथावस्तु होते हुए भी इन नाटकों के विरुद्ध ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में नहीं रखा जा सका। चरित्र चित्रण पर जोर देने के कारण प्रसाद के पात्रों का व्यक्तित्व बड़ी सावधानी से गढ़ना पड़ा है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ ही प्रसाद ने मानव मन का भी विश्लेषण किया है। प्रसाद के कतिपय नाटक इतिहास का नया संस्करण प्रतीत होते हैं।

प्रसाद के नारी पात्र उनकी कल्पना और भावुकता के अधिक समीप हैं। उनका व्यक्तित्व औपन्यासिक और रोमान्टिक है। इन नारियों की अतिशय भावुकता और प्रेम-भावना प्रसाद के व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखती है। नारी पात्रों के माध्यम से 'प्रसाद' ने मानो अपने भीतर के कवि को वाणी दी है। चरित्र-चित्रण में यह उनकी शक्ति है पर अभिनय के क्षेत्र में एक नारी-दुर्बलता। नाटकों में चरित्र-चित्रण का प्रवेश प्रसाद की अपनी वेशेषता है।

प्रसाद के अधिकांश नाटक अनीभनेय कहे जाते हैं। उनका अभिनय इसलिए कठिन है कि नाटककार के सम्मुख कोई रंगमंच नहीं था जिसे ध्यान में रखकर वह नाट्य-रचना करता। कतिपय स्वगत भाषण, क्लिष्ट भाषा, अतिशय भावुकता, गीतों का बाहुल्य, कठिन दृश्यविधान आदि दोष 'प्रसाद' के नाटकों मे लगाए जा सकते हैं। अभिनय की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की सर्वोतम कृति है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों को देखने पर नाटककार का सांस्कृतिक स्वर स्पष्ट हो जाता है। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष, अलक्षोन्द्र का

आक्रमण, हूणों की पराजय आदि बातें नाटकों की कथा में मिल जाती हैं। नाटकों की लम्बी भूमिकाएँ प्रसाद की अनुसंधान-शक्ति का परिचय देती हैं। उन्होंने इतिहास को भावात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इसी इतिहास के माध्यम से समाज के आधुनिक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। ध्रुवस्वामिनी वर्तमान समस्या का है। चन्द्रगुप्त राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। 'प्रसाद' ने हिन्दी नाटकों को एक नई दिशा दी, उसे एक विकसित धरातल पर लाकर खड़ा किया। 'प्रसाद' के भाव-प्रधान नाटकों की धारा अभी तक चली आ रही है। हरिकृष्ण प्रेमी, डा० रामकुमार वर्मा आदि को हम इसी परम्परा में रख सकते हैं।

बौद्धिकता प्रधान नाटक :—किसी भी साहित्य रूप के प्रति एक प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक होती है। 'प्रसाद' के भावना प्रधान नाटकों के विरोध में लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने अपनी बौद्धिकता को प्रस्तुत किया। ये लेखक समाज के रूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। वे परम्पराओं एवं रूढ़ियों के घोर विरोधी हैं। समाज के प्रश्नों को वे बुद्धि और तर्क से सुलझाने के पक्षपाती हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में अपना बुद्धिवादी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उनके अधिकांश नाटक सामाजिक हैं। वे समस्या नाटक भी हैं। 'राक्षस कामान्दी', सन्यासी, वत्सराज, अशोक आदि उनके प्रमुख नाटक हैं।

भावना-प्रधान नाटकों की परम्परा :—'प्रसाद' की परम्परा आज भी वर्तमान है। 'प्रेमी' उसी परम्परा के नाटककार हैं। भावुकता के साथ तीव्र मानवीय संवेदना और राष्ट्रीय भावना 'प्रेमी' के नाटकों की विशेषता है। 'पातालीजय', 'स्वर्णविहाल', 'रक्षाबंधन', 'स्वप्न-भंग' 'आहुति', 'छाया', 'बंधन', 'विषपात' आदि उनके प्रमुख नाटक हैं। प्रेमीजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं और उनकी कथावस्तु प्रायः मुगल-काल से ली गई है।

'प्रसाद' की परम्परा के निकट ही उदयशंकर भट्ट को रखा जा सकता है। उनमें कवि और नाटककार का संयोग है। 'विक्रमादित्य', 'अम्बा', 'सगर-विजय', 'कमला', 'मुक्तिपथ', 'अंतहीन अंत' उनके प्रमुख नाटक हैं। भट्टजी ने पौराणिक कथावस्तु को ग्रहण किया है। भट्टजी के नाटकों पर संस्कृत नाट्य परम्परा का प्रभाव है। टेकनीक की दृष्टि से भट्टजी के नाटक अधिक महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि उन्होंने इस दिशा में आर्थिक प्रयोग नहीं किए।

दूसरे समकालीन नाटककार हैं गोविंदवल्लभ पंत। 'कंजूस की खोपड़ी' (१९५३) वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी, अंतःपुर का छिद्र, सिन्दूर बिन्दी, ययाति (१९४७) आदि उनके नाटक हैं। 'प्रसाद' और प्रेमीजी की भाँति पन्तजी ने अपने नाटकों की विषय-वस्तु किसी विशेष मात्र या समय से ग्रहण नहीं की। 'राजमुकुट' और, अंतःपुर का छिद्र' ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर लिखे गए हैं। "अंगूर की बेटी" में मदिरापान की भर्त्सना की गई है। 'सिन्दूर बिंदी' में हिन्दू समाज की स्त्रियों पर विचार किया गया है। गोविंद वल्लभ पंत ने किसी विशेष विचार पद्धति को अथवा जीवन-दर्शन को नाटक में अभिव्यक्ति देना नहीं चाहते। उन्होंने नाटकों को कला के माध्यम रूप में ही ग्रहण किया है। अभिनय की दृष्टि से सफल होते हुए भी इनके नाटकों का स्तर बहुत उच्च नहीं है।

सामाजिक नाटक :—सामाजिक यथार्थ के साथ ही राजनीति को ग्रहण करके नाट्य-रचना करनेवालों में सेठ गोविंददास का नाम प्रमुख है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम से उनका सीधा सम्बन्ध रहने के कारण उनके नाटकों में एक-एक स्थूल यथार्थ की प्रमुखता है। 'कर्त्तव्य तथा कर्ण पौराणिक, हर्ष, शशिगुप्त, शेरशाह ऐतिहासिक तथा 'प्रकाश', 'सेवापत्र', स्वातन्त्र्य, बड़ा पापी कौन, दुख क्यों त्याग या ग्रहण, पाकिस्तान आदि अनेक उनके राजनीतिक और सामाजिक नाटकों की लम्बी सूची है। गोविददास ने यथार्थ के स्पष्ट एवं बाह्य रूप को ग्रहण

किया है। किसी समस्या के मूल में जाने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है, पर समाज के कुछ प्रश्न काफी सफलता के साथ उनके नाटकों में प्रस्तुत किए गए हैं।

समाज की बढ़ती हुई समस्याओं के साथ-साथ नाटककारों का ध्यान इस ओर अधिक आकृष्ट हुआ। कई नाटककार इस दिशा में अग्रसर हुए। इनमें से कुछ केवल सतह को चित्रित करके रह गए, पर कुछ ने समस्याओं के मूल में प्रवेश किया। ऐसे नाटककारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम आता है। इन्हें हम अधिक चिन्तनशील नाटककार के रूप में पाते हैं। जय-पराजय (१९३७), स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, कैद, उड़ान, पतरे, अलग-अलग रास्ते, अंजो दीदी (१९५५) आदि उनके नाटक हैं जिनमें 'जय-पराजय' को छोड़कर सभी सामाजिक हैं। 'अश्क'जी पात्रों का चित्रण सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर करते हैं। 'अश्क'जी ने समाज की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का भी सहारा लिया है। उन्होंने पात्रों के मानसिक चढ़ाव-उतार को काफी सावधानी से अपने नाटकों में अंकित किया है। 'अश्क'जी के नाटकों में अभिनेयता का गुण भी है।

एकांकी :—आधुनिक युग में एकांकी कला का प्रर्याप्त विकास हुआ और अधिकाधिक संख्या में एकांकी नाटक लिखे जाने लगे। इतिहास-लेखक संस्कृत साहित्य में एकांकी के बीज खोजते हैं। वे महाकवि भास के तथा नीलकंठ के 'कल्याण सौगान्धिक' को उदाहरण रूप में पेश करते हैं। किन्तु वास्तव में अन्य गद्य शैलियों की भाँति ही एकांकी की कला भी आधुनिक है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि के प्रहसनों में एकांकी की प्रारम्भिक रूपरेखा देखी जा सकती है। 'प्रसाद' का 'एक घूँट' (१९२८) हिन्दी का प्रथम व्यवस्थित एकांकी है। किन्तु उसमें भी संवादों का बाहुल्य है और कार्यगति मंथर है। इस दृष्टि से वह रवीन्द्र की नाटिकाओं के समीप है।

एकांकी नाटकों को एक नई दिशा देने का कार्य उन नाटककारों ने किया जो नाटकों में अधिकाधिक यथार्थ का प्रवेश करना चाहते थे। साथ ही उनकी यह भी इच्छा थी कि किसी घटना विशेष के मार्मिक स्थल को पूरी संवेदना के साथ एकांकी में प्रस्तुत किया जाय। रामकुमार वर्मा इतिहास की दृष्टि से हिन्दी के प्रथम सफल नाटककार हैं। उनका पहला एकांकी 'बादल' लगभग १६३० में लिखा गया था। पाँच-छः वर्ष के बाद 'पृथ्वीराज की आँखें' नामक संग्रह प्रकाशित हुआ तब से चारुमित्रा, रेशमी टाई, मृत्युराज, सप्ताकरण, रूपरंग, रिमझिम आदि उनके कई एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। रामकुमार वर्मा की प्रकृति गीतात्मक है, इसी कारण उनके नाटक लिरिकल हैं। ऐतिहासिक आधार पर लिखे गए एकांकी कवि नाटककार की भावुकता से कहीं-कहीं बोझिल हो गए हैं।

यथार्थ का प्रवेश एकांकी के लिए बहुत हितकर हुआ। १६३५ ई० में भुवनेश्वर का कारवां प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह एकांकी पश्चिम की नई विचारधारा और कला से पूरी तरह प्रभावित है, पर उसने हिन्दी एकांकियों के लिए नया द्वार खोल दिया। एकांकियों की दिशा में लगभग सभी नाटककार अग्रसर हुए। स्पर्श, सप्तरश्मि, अष्टदल, पंचभूत, एकादशी, चतुष्पद, कुछ आप बीती कुछ जगबीती सेठ गोविंद दास के एकांकी हैं। समस्या का अन्त, चार एकांकी, अभिनय एकांकी, अस्तोदय, पर्दे के पीछे आदि उदयशंकर के एकांकी हैं। देवताओं की छाया में, तूफान से पहले, चरवाहे, पक्का गाना, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ 'अश्क' के एकांकी हैं। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकी भोर का तारा, ओ मेरे सपनों में संग्रहित हैं। माथुर जी रंगमंच को ध्यान में रखकर नाट्य-सृष्टि करते हैं। उनके नाटक कोणार्क का परिशिष्ट अंश इस बात का प्रमाण है। विष्णु प्रभाकर तथा डा० लक्ष्मीनारायण लाल भी प्रर्याप्त संख्या में नाटक लिख रहे हैं। एकांकी की लोकप्रियता का प्रमाण

यह है कि भगवतीचरण वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती जैसे कवि तथा यशपाल, जैनेन्द्र, वृन्द्रावन लाल वर्मा जैसे कथाकार भी एकांकी लिख रहे हैं।

हिन्दी नाटकों में नये रूप भी प्रस्तुत हो रहे हैं—जैसे रेडियो, रूपक, भावनाट्य, गीतिनाट्य आदि। वास्तव में नाटकों की दिशा में अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं, पर एक विकसित रंगमंच के अभाव में अभी हिन्दी नाटक साहित्य अधिक प्रगति नहीं प्राप्त कर पा रहा है।

हिन्दी-उपन्यास का प्रारम्भ और विकास

हिन्दी-उपन्यास के प्रारम्भ के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि हिंदी-उपन्यास प्राचीन कथा-साहित्य की परम्परा का विकसित रूप है। बाणभट्ट की कादम्बरी और 'हर्ष-चरित' की जो परम्परा थी उसी परम्परा में हिन्दी-उपन्यास भी आते हैं। किंतु विद्वानों का दूसरा वर्ग उपन्यास-कला को आधुनिक युग की देन मानता है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार हिन्दी-उपन्यास का संबंध प्राचीन कथा-परम्परा से कुछ भी नहीं है। यही मत आज-कल सर्वमान्य भी है।

हिंदी-उपन्यास का जन्म अत्याधुनिक युग में हुआ है। बहुत कुछ गद्य के विकास के साथ ही उपन्यास-साहित्य का भी विकास हुआ है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। आधुनिक उपन्यास केवल कथा-मात्र नहीं है, और पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं की भाँति कथा-सूत्र का बहाना लेकर उपमाओं, रूपकों, दीपकों और श्लोकों की छटा और सरस पदों में गुम्फित पदावली की छटा दिखाने का कौशल भी नहीं है। यह आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है।"

हिंदी-उपन्यास के जन्म के पहले हिंदी गद्य में अनेक कथा तथा कथा-काव्य लिखे गए और अनूदित हुए, किंतु उन्हें हम उपन्यास की श्रेणी में नहीं रख सकते। शुक्लजी के अनुसार हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' है, किंतु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतेंदु के 'पूर्णप्रकाश और चंद्रप्रभा' नामक एक उपन्यास की चर्चा करते हुए उसे हिंदी-साहित्य का प्रथम उपन्यास माना है। १८८६ ई० से १८६३ ई० तक और भी कई उपन्यासों की रचना हुई। पं० बालकृष्ण भट्ट ने १८८६ ई० में 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा १८६२ ई० में 'सौ अनजान एक सुजान' नामक उपन्यासों की रचना की। राधाकृष्णदास ने १८८६ ई० में 'निःसहाय हिंद' की रचना की। मेहता लज्जाराम शर्मा का 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी', 'धूर्त रसिकलाल' गोपालराम गहमरी का 'बड़ा भाई' और 'सास-पतोहू' तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी', 'हृदयहारिणी', 'लवँगलता' आदि अनेक उपन्यासों की रचना इसी अवधि में हुई।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में सबसे अधिक धूम ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की मची, जिसके लेखक थे देवकीनंदन खत्री। इनके दो उपन्यास 'चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति' ने पाठकों के जितने बड़े समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट किया उतना आज तक किसी उपन्यास ने नहीं किया। इन पुस्तकों के अनुकरण पर और भी उपन्यास लिखे गये।

इस समय अंग्रेजी तथा बँगला के उपन्यासों के अनुवाद बड़ी तेजी के साथ प्रकाशित हो रहे थे। इसका प्रभाव हिंदी-उपन्यास कला पर बहुत अच्छा पड़ा। बँगला उपन्यासों ने हिंदी को एक ओर तो अतिप्राकृत, अतिरंजित, घटनाबहुल ऐय्यारी उपन्यासों के मोह-जाल से मुक्त किया और दूसरी ओर शुद्ध भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख किया।

प्रो० नलिनविलोचन शर्मा के अनुसार—"आधुनिक युग के प्रारम्भ होने के पूर्व उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का कला और उद्देश्य की दृष्टि से उपेक्षित तथा निम्नकोटि का अंग माना जाता रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से यह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे गद्य-काव्य बनकर उन गुणों से मण्डित होना पड़ता था, जो वस्तुतः काव्य के हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अंत्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका और अब तो जात्रिजात्य का भी दावा कर सकता है।"

हिंदी-उपन्यास के विकास का सर्वाधिक श्रेय प्रेमचंदजी को है प्रेमचंद के पहले के उपन्यास प्रधानतः मनोरंजन के साधन ही थे, जीवन के सत्य के वाहक नहीं। प्रेमचंद पर हिंदी के पूर्व उपन्यास-लेखकों का प्रभाव नहीं के बराबर ही था। रामविलास शर्मा ने लिखा है—"प्रेमचन्द के पूर्व श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण-दास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचंद को प्रभावित नहीं किया था।"

प्रेमचंद की प्रतिभा ने उपन्यास-साहित्य को सभी गुणों से समन्वित कर दिया। उनके उपन्यास अपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। प्रेमचंद में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनी और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मन्द तीव्र धाराओं में विभक्त हो गयीं।

'गोदान' प्रेमचंदजी का सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है। नलिनजी के शब्दों में—" 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं, स्वयं प्रेमचंद की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके विराट, विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गयी, शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।"

प्रेमचंद के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिये ही नहीं, स्वयं प्रेमचंद के लिये भी भाषा दुर्लभ विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। प्रेमचंद के पहले केवल देवकीनंदन खत्री ने निराडम्बर भाषा में उपन्यास की रचना की थी। देवकीनंदन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखनेवाले लेखक यह नहीं समझते कि खत्रीजी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था, बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचंद ने भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपांतरित और उन्नत किया। यह प्रेमचंद के लिए तब सम्भव हुआ, जब उन्होंने उर्दू गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर छोड़ कठिनता से दिया।' 'गोदान' में प्रेमचंद की शैली उर्दू गद्य की अलंकारिता से सर्वथा मुक्त हो गई है।

प्रेमचंद के स्कूल के कलाकारों में 'सुदर्शन और कौशिक' अधिक प्रसिद्ध हैं। सुदर्शन भी प्रेमचंद की तरह उर्दू से हिंदी में आए थे। प्रेमचंद के समकालीनों में जयशंकर प्रसाद और बेचनशर्मा 'उग्र' अविस्मरणीय हैं। 'कंकाल' और 'तितली' 'प्रसाद' जी के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं। 'उग्र' जी अपने साहित्य में भी उग्र थे। इनके उपन्यासों में घोर यथार्थवादी चित्रण है। 'बुधुआ की बेटी' इनका प्रमुख उपन्यास है। नलिनजी ने लिखा है—उग्रजी का असफल अनुकरण 'कोकसाहित्य' के कुछ लेखकों ने किया, किंतु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता क्षम्य हो जाती है।

भाषा एवं शैली की दृष्टि से उपन्यास-साहित्य के विकास में जैनेन्द्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी भाषा में सचेष्ट असचेष्टता है। इनकी रचनाओं में सुनीता को विशेष ख्याति मिली है। इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में वृन्दावनलाल वर्मा का नाम अधिक उल्लेखनीय है। इन उपन्यास-लेखकों के अतिरिक्त अयोध्यासिंह

उपाध्याय, चंडीप्रसाद हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, सियारामशरण गुप्त, राधिकारमण सिंह, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों की हिंदी-साहित्य में बहुत अधिक प्रसिद्धि है।

प्रेमचंद के कुछ बाद हिंदी-साहित्य में और भी अनेक उपन्यास-लेखकों का पदार्पण हुआ। भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' आदि सुंदर उपन्यासों की रचना की। 'निराला' ने भी कुछ उपन्यास लिखे। उपन्यास के क्षेत्र में 'सुकुल की बीबी', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि प्रयोग ही माने जायँगे। इनके अतिरिक्त श्रीनाथ सिंह, अवध-नारायण, गोविंदवल्लभ पंत, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अनूपलाल मंडल, उषादेवी मित्रा, नरोत्तमदास नागर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, राहुल सांकृत्यायन, मोहनलाल महतो वियोगी, धर्मेन्द्र, अंचल आदि ने भी अपनी सुंदर रचनाओं से हिंदी के उपन्यास साहित्य की वृद्धि की।

प्रेमचंद के बाद की पीढ़ी में दो उपन्यास लेखकों की चर्चा अधिक होती है—एक हैं 'अज्ञेय' और दूसरे यशपाल। अंग्रेजी उपन्यासों के जिस गद्य को लोग आदर्श मानकर ललचाई दृष्टि से उसे आत्मसात् कर लेने की चेष्टा करते आ रहे थे, वह चेष्टा तब तक कृतकार्य नहीं हुई जब तक 'अज्ञेय' इस क्षेत्र में नहीं आए। 'शेखर—एक जीवनी' उनका नया प्रयोग था। उसके बाद 'नदी के द्वीप' में भी भाषा तथा मनोविश्लेषण की दृष्टि से उन्हें अपूर्व सफलता मिली।

हिंदी-उपन्यास-साहित्य में यशपाल की भी बहुत बड़ी देन है। उन्हें उपन्यास तथा कहानी दोनों क्षेत्रों में अद्भुत सफलता मिली है। अनेक उपन्यासों की रचना उनकी लेखनी से हुई है। 'मनुष्य के रूप' तथा 'दिव्या' उनकी अमर कृतियाँ हैं। फ्रायड के सिद्धान्तों के आधार पर मनोविश्लेषण करनेवाले उपन्यासकारों में इलाचंद्र जोशी अग्रणी हैं। 'संन्यासी' उनकी सुंदर कला-कृति है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के रूप में हिंदी-साहित्य में एक नया प्रयोग किया। बाद के लेखकों में धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती-गंगा', गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' का उपन्यास-साहित्य में प्रयोग की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है।

राँगेय राघव को भी उपन्यास के क्षेत्र में बहुत अधिक ख्याति मिली। रामानंद सागर का 'और इनसान मर गया' बड़ी सुंदर रचना है। इस प्रकार उपन्यास के क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन नये-नये लेखक नवीन प्रयोगों के साथ आ रहे हैं, जिससे हिंदी-उपन्यास-साहित्य का भविष्य और भी उज्ज्वल दीखता है।

हिन्दी कहानी का प्रारम्भ और विकास

हिन्दी-कहानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग आधुनिक कहानी-साहित्य को प्राचीन कथा-साहित्य की परम्परा का विकास मानते हैं और कुछ लोग उसे पाश्चात्य आधुनिक साहित्य की देन मानते हैं। श्री सुदर्शन और विनोदशंकर व्यास ने हिन्दी-कहानी-साहित्य की परम्परा का सम्बन्ध गुणाढय की 'बृहत्कथा' तथा जातक-कथाओं से बताया है। कुछ लोगों ने गोकुलनाथ की "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" को पहला कहानी-संग्रह माना है और कुछ लोग इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी मानते हैं। दूसरा दल उन विद्वानों का है जो हिन्दी-कहानी को पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव का प्रतिफलन और आधुनिक युग की देन मानते हैं।

ठाकुर प्रसाद सिंह के अनुसार "हिन्दी कहानी यद्यपि प्राचीन कहानियों तथा पाश्चात्य शैली के निकट समान भाव से आभारी हैं, किन्तु

इतना सब लौटा देने के पश्चात् भी उसके पास जो बच रहता है उससे उसकी भौतिक विकास परम्परा का पूर्ण आभास पाने में सम्भवतः कठिनाई नहीं पड़ेगी। हिन्दी कहानी एक ओर भारतीय चिन्तन की एक नई मनःस्थिति का प्रतिफलन होकर भी पिछले सम्पूर्ण वर्णन, मनोविश्लेषण, उद्देश्य तथा वस्तु-योजना की श्रृंखला में एक बिल्कुल नई कड़ी है।"

प्रेमसागर या सुखसागर की प्रेम-सम्बन्धी कहानियाँ, नासिकेतोप्याख्यान तथा रानी केतकी की कहानी में हम आधुनिक कहानी-कला की छाया भी नहीं पाते। ये हितोपदेश, पंचतंत्र तथा सूफियों की प्रेमगाथाओं के समान उपदेशमूलक तथा धार्मिक व्याख्यानों से पूर्ण हैं। अतः इनसे हम हिन्दी कहानी-साहित्य का प्रारम्भ नहीं मान सकते। भारतेंदु-युग में भी आधुनिक कहानी-कला का विकास नहीं हुआ, किन्तु लघु कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। राधाचरण गोस्वामी की 'यम लोक की यात्रा', भारतेंदु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' आदि रचनाएँ अन्योक्ति-पद्धति की सफल कहानियाँ थीं; किन्तु जिस अर्थ में बाद की कहानियों को लिया गया, उसमें ये कथाएँ अब भी नहीं आती थीं। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में हिन्दी कहानियों का वास्तविक प्रारम्भ प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'सरस्वती' से होता है जिसे १६०० ई० में इण्डियन प्रेस ने चलाया।"

विद्वानों ने १६०० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित 'इन्दुमती' को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी कहा है जो 'सरस्वती' में छपी थी। शुक्लजी ने काल-क्रम से प्रकाशित तीन कहानियों को मौलिक कहानियों के अंतर्गत रखा है जिनमें किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' (१६०० ई०) को प्रथम स्थान, अपनी कहानी 'ग्यारह वर्ष का सपना' (१६०३) को दूसरा स्थान और श्रीमती बंगमहिला द्वारा लिखित 'दुलाईवाली' (१६०७ ई०) को तीसरा स्थान दिया है।

किन्तु हिन्दी के अनेक विद्वान् इन कहानियों को भी आधुनिक कहानी-कला की दृष्टि से सफल नहीं मानते और न इनसे हिन्दी-कहानी का विकास ही मानते हैं। ठाकुरप्रसाद सिंह ने लिखा है—"गिनाने के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी की कहानियों की सूची भी दे दी, किन्तु उस सूची में ऐसा एक भी लेखक न था, जिसने बाद में भी इस दिशा में जमकर काम किया हो। इन कहानियों के कहने में भी एक झिझक का भाव दीखता है और यदि कहानी की कसौटी पर कसें तो सम्भवतः अपनी बोझिल शैली के कारण पीछे रह जायँगी।"

सन् १९११ ई० में 'इंदु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। उसी वर्ष जयशंकर 'प्रसाद' की प्रथम कहानी 'ग्राम' उसमें छपी जिसे कुछ विद्वान् हिंदी की प्रथम सफल मौलिक कहानी मानते हैं। यद्यपि यह भी कहानी से अधिक 'स्केच' ही प्रतीत होती है, किंतु इसकी सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। उसी वर्ष गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम हास्यरस का कहानी 'पिकनिक' भी प्रकाशित हुई तथा 'भारतमित्र' में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' भी छपी। ये तीनों लेखक आगे चलकर हिंदी-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक बने। चन्द्रधर शर्मा की कहानियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है, पर इन कुछ रचनाओं के बल पर ही ये साहित्य में अपूर्व गौरव के अधिकारी हुए।

सन् १९१२ ई० में 'प्रसाद' जी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' प्रकाशित हुई। फिर ज्वाला प्रसाद शर्मा की 'विधवा' और 'तस्कर' और विश्वम्भरनाथ कौशिक की प्रथम कहानी 'रक्षाबंधन' (१९१३ ई० में) प्रकाशित हुई। सन् १९१५ ई० में 'सरस्वती' में गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी "उसने कहा था" प्रकाशित हुई। इस कहानी के साथ ही हिंदी-कहानी ने एक नई मंजिल शुरू की।

सन् १९१६ ई० में प्रेमचंद की प्रथम कहानी 'पंचपरमेश्वर' प्रकाशित हुई। प्रेमचंद का प्रदुर्भाव हिंदी-कथा साहित्य की सबसे बड़ी घटना थी। हिंदी-कहानी का समुचित विकास यहीं से प्रारम्भ हुआ।

कुछ दिनों के बाद प्रेमचंद की दूसरी कहानी 'आत्माराम' प्रकाशित हुई। इनकी कहानियों ने सर्वप्रथम देश की जनता की यथार्थ समस्याओं का स्पर्श किया। उनकी कहानियों के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा यथार्थता के भीतर से मनुष्य-हृदय की विशालता उद्घाटित हुई।

'प्रसाद और प्रेमचन्द के समय में अन्य जितने भी कहानी-लेखक हुए, सबने इन्हीं दो लेखकों का अनुसरण किया। 'प्रसाद' की कहानियों की तरुण भावुकता और अतिशय चित्रात्मकता उन्हें प्रेमचद से अलग रखती हैं। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' (१९२६ ई०) तक उनपर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव परिलक्षित होता है। आकाश-दीप (१९२९ ई०) में भावुकता के साथ कुछ दार्शनिकता का पुट भी आ जाता है। 'सोने के साँप' और 'प्रतिध्वनि' में मनोविश्लेषण का प्रयत्न है। आँधी (१९३१ ई०) तथा 'इन्द्रजाल' (१९३६) में 'प्रसाद' के प्रौढ़ कहानीकार का दर्शन होता है। उन्हें हम मूलतः आदर्शवादी कलाकार के रूप में पाते हैं।

प्रेमचंद को हम यथार्थवादी और कहीं-कही आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानीकार के रूप में पाते हैं। उनकी सहज-सरल भाषा उनकी कहानियों की सफलता का एक प्रधान कारण है। कुशल लेखनी, संतुलित प्रज्ञा और संवेदशील विवेक कहानीकार प्रेमचंद की प्रधान विशेषताएँ हैं। कहीं हम उन्हें प्रचारक, कहीं सामाजिक संघर्षों का चित्रकार, कहीं राजनीतिक आंदोलनों का स्वरवाहक और कहीं वर्गगत विषमता के कटु आलोचक के रूप में पाते हैं। उनकी कहानियाँ सोद्देश्य और चरित्रचित्रण प्रधान हैं। उनमें किस्सागोई का आकर्षण भी है और आधुनिक कला का चरम-विकास भी। उन्होंने कई सौ कहानियों की रचना की है जो अनेक 'संग्रहों' में प्रकाशित हैं।

इन दो कहानीकारों के बाद कहानी लेखक इन्हीं दोनों की चलाई धारा में बँटे रहे। प्रेमचंद की धारा के कहानीकारों में 'कौशिक',

सुदर्शन, आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि प्रमुख हैं और 'प्रसाद' की धारा में विनोदशंकर व्यास, रायकृष्ण दास आदि लेखक आते हैं। इन दोनों धाराओं से अलग पाण्डेय बेचनशर्मा 'उग्र' अपने अति यथार्थवाद तथा भाषा एवं पैनी दृष्टि के लिए विख्यात हैं।

इन कहानी लेखकों के अतिरिक्त उस युग में राजा राधिकारमण, शिवपूजन सहाय, पन्नालाल हृदयेश, गोविंदवल्लभ पंत, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गोपालराम गहमरी, वृन्दावनलाल वर्मा आदि लेखकों ने कहानी-साहित्य के विकास में बहुत अधिक योगदान दिया। अन्य लेखकों में जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों की अपनी विशिष्टता थी। वाजपेयीजी की कहानियों में प्रतीकों का सहारा भी लिया गया है तथा रोमानी तरीकों का भी प्रयोग है। जैनेन्द्र में सामाजिक चेतना तो है, किन्तु पृष्ठभूमि पारिवारिक ही है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ व्यंग्य-प्रधान अधिक हैं। श्री सुमित्रानन्दन 'पंत' ने भी कुछ अनुभूतिपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। 'पानवाला' अच्छी कहानी मानी जाती है। 'निराला' की अधिकांश कहानियाँ १६४० ई० के पहले की हैं। उनकी कहानियों में नया प्रयोग है। 'गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा और लिली' उनकी टिपिकल कहानियाँ हैं।

कहानी-साहित्य के विकास के तीसरे चरण में वे कहानीकार आते हैं जिनपर मूलतः मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों की छाप अधिक है। मनोविश्लेषणपूर्ण कहानियाँ लिखने में इलाचंद जोशी और 'अज्ञेयजी' के नाम आते हैं। जोशीजी को उपन्यास में इस प्रयोग के कारण काफी सफलता मिली, किन्तु कहानियाँ विस्तार के कारण 'डायरी के पन्ने' बनकर रह गई। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने में 'अज्ञेयजी' को अपूर्ण सफलता मिली है। 'विपथगा' की सभी कहानियाँ अपने आप में विशिष्ट हैं। पगोडावृक्ष, अकलंक, शत्रु, रोग आदि कहानियों में मनोविश्लेषण अत्यन्त स्वाभाविक है।

'परम्परा', 'जयदोल' आदि उनके प्रसिद्ध संग्रह हैं। 'अज्ञेय' की धारा में लिखनेवाले अनेक लेखक हैं। 'अज्ञेय' के अतिरिक्त 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की प्रारम्भिक रचनाएँ काफी सफल रहीं, कारण रोमानीपन था, किन्तु बाद में इन लेखकों का विश्वास उस शैली से उठ गया।

कहानी लेखक के रूप में प्रेमचंद के बाद सर्वाधिक सफलता यशपाल को मिली है। उनकी कहानियों में मार्क्स तथा फ्रायड दोनों के सिद्धान्तों का सुन्दर सम्मिश्रण है। यशपाल के लिखने की एक विशिष्ट शैली है। इनकी कहानियों का अंत अत्यंत कलात्मक और सांकेतिक (Suggestive) होता है। प्रतिष्ठा का बोझ, रिजक, शम्बूक, फूलों का कुर्ता आदि कहानियाँ समाज के नाना स्तरभेद का, सत्य का उद्घाटन करती हैं जो उद्घाटन निर्माणात्म रहता है। ध्वंश के साथ निर्माण के आदर्श की स्थापना इनकी कहानियों का दृष्टिकोण है।

इन कहानी लेखकों के अतिरिक्त धर्मवीर भारती, शम्भूनाथ सिंह, आरसीप्रसाद सिंह, बलवन्त सिंह, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण आदि लेखकों ने भी कहानी-साहित्य के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

आधुनिक युग के कहानी लेखकों में अधिकांश यशपाल के साथ आये हैं। इस दिशा में प्रेमचंद के 'हंस' ने ऐतिहासिक कार्य किया। उसके मंडल में चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णुप्रभाकर, रहबर, भगवतशरण, राँगेय राघव, अमृतराय, गंगा प्रसाद मिश्र, मोहन सिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, अमृत लाल नागर आदि के नाम आते हैं। इन कहानीकारों ने हिन्दी-कहानी-साहित्य को इतना उन्नत बना दिया है कि जब किसी भी भाषा के कहानी-साहित्य से हिन्दी कहानी-साहित्य होड़ ले सकता है।

कहानी लेखकों के रूप में हमें नलिनविलोचन शर्मा, नवलकिशोर गौड़, रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० राहुल सांकृत्यायन, मन्मथनाथ गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री कमलदेव नाराण आदि की सेवा को भी नहीं भूलना होगा। इस समय कहानीकारों की एक नवीन पीढ़ी भी बन रही है जिससे कहानी-साहित्य का भविष्य में और भी विकास सम्भव है। आधुनिक काल में साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा कहानी का विकास बड़ी तेजी से हुआ है।

हिन्दी-निबंध-साहित्य का प्रारम्भ और विकास

हिन्दी-साहित्य में 'निबंध' का जन्म भारतेंदु के युग में ही माना जा सकता है। भारतेंदु के कुछ पहले का लिखा निबध 'राजा भोज का सपना' माना जाता है जिसके लेखक 'सितारे हिन्द' थे, किन्तु वहाँ से आधुनिक निबंध का प्रारम्भ वस्तुतः हुआ नहीं। निबन्ध की परम्परा चलानेवाले भारतेंदु ही थे।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के निबंध प्राथमिक प्रयास हैं जिनमें सच्चे निबंध के आवश्यक गुण वर्तमान हैं। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक, सभी विषयों पर निबंध की रचना की। 'मेंहदावल', 'हरिद्वार', 'वैद्यनाथ की यात्रा' आदि निबंधों में उनकी निरीक्षण-शक्ति और वर्णन-क्षमता का अच्छा परिचय मिलता है। विषय और शैली की दृष्टि से भारतेंदु के निबंधों में पूरा वैविध्य है।

भारतेंदु के बाद श्री बालकृष्ण भट्ट और श्री प्रतापनारायण मिश्र के द्वारा निबंधों का अच्छा विकास हुआ। भट्टजी के निबन्ध चिन्तनपूर्ण हैं। वे एक जागरूक विचारक थे। भेद, बुद्धि, स्वार्थपरता, शुष्क परमार्थ चिन्तन, मिथ्या चरण, आडम्बर और बाहरी ढकोसलों से भट्टजी को बहुत चिढ़ थी। उन्होंने अपने निबंधों में समाज, धर्म, राजनीति सबकी बुराइयों की चर्चा की है। स्त्रियाँ, संसार कभी एक सा न रहा, निरे राम-राम जपनेवाले भोंदूदास, माँगवो भलो न

आप से जो विधि राखे टेक, बातचीत, जबान आदि उनके प्रमुख निबंध हैं। इनकी भाषा विषय के अनकूल और गम्भीर है। प्रायः विनोदपूर्ण रचनाओं में भी उनकी गम्भीरता झलकती है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र मस्त और मनमौजी जीव थे। विनोद-रसिक प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी स्वच्छन्द होकर चलती थी जिससे उनकी भाषा में अकृत्रिम प्रवाह और स्वाभाविकता है। यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी है। उनके निकट निबन्ध व्यक्तिनिष्ट है। विषय जो भी जी में आया, ले लिया और रोचक ढंग से अपनी बातें कह दीं। निबंध का विषय उनकी विचारधारा को नियंत्रित नहीं करता, बल्कि उनकी विचारधारा विषय पर नियंत्रण रखती है। उनके निबंध के विषय हैं—'दाँत', 'भौं', 'आप' आदि।

उस युग के लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त, श्री ज्वालाप्रसाद, राधा-चरण गोस्वामी, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने अच्छे निबंध-साहित्य की सृष्टि की।

भारतेंदु युग के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में आकर निबंधों में अधिक गम्भीरता आ गई। किन्तु भाषा की पेचीदगी बहुत कुछ हट गई। द्विवेदीजी स्वयं बहुत सफल निबंधकार थे। उनके निबंधों में—'साहित्य की महत्ता', 'कवि और प्रतिभा' 'नाटक', 'उपन्यास' आदि जैसे निबंध ज्ञान के संचित भांडार हैं। उनके कुछ निबंध ऐसे भी हैं जिनमे उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छन्द मनोदशा और आत्मीयता के दर्शन होते हैं, जैसे—दण्डदेव का आत्मनिवेदन, नल का दुस्तर दूत-कार्य, कालिदास का भारत, गोपियों की भगवद्भक्ति आदि। द्विवेदीजी के प्रयास से 'निबंधों' की भाषा स्पष्ट और शुद्ध हो गई।

द्विवेदी युग के निबंधकारों में बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबंधु, श्री गुलाब राय, पं० पद्म सिंह शर्मा, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के नाम आते हैं। इनके अतिरिक्त श्री माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्ण सिंह के नाम अधिक उल्लेखनीय

हैं। माधव प्रसाद मिश्र का 'सब मिट्टी हो गया' निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'गुलेरी' जी विचार और शैली की दृष्टि से इस युग के सबसे अधिक प्रगतिशील लेखक थे। उनके 'कछुआधाम', 'शिष्टसमाज', 'मारेसि मोहि कुठाँव' आदि निबंधों में उनकी शैली का चमत्कार और विचारों की प्रगतिशीलता अच्छी तरह दिखाई देती है। निबंधों की परम्परा को नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य सरदार पूर्ण सिंह ने किया। 'श्रम-श्रमिक', 'सरल जीवन', 'आत्मिक उन्नति', आदि विषयों पर उनके निबंध बहुत अधिक महत्त्व के हैं।

निबंध साहित्य को सर्वाधिक विकास देनेवाले पं० रामचंद्र शुक्ल थे। नैतिकता को उन्होंने व्यावहारिक बना दिया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खंडन करके उन्होंने 'भाव-योग' का महत्व स्थापित किया। यह कार्य स्वतंत्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव-जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को प्रदर्शित किया। उनके निबंधों में गहन विचार-बीथियों के बीच-बीच में सरस भावस्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीति', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति' जैसे निबंधों में उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

शुक्लजी की परम्परा में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, इलाचंद जोशी और शिवदान सिंह चौहान आते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी के निबंध भावुकतापूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी, डा० रघुबीर सिंह, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि के नाम निबंधकार के रूप में विशेष उल्लेखनीय हैं। सियारामशरण गुप्त ने भी निबंध के क्षेत्र में अच्छी प्रतिभा का परिचय दिया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध अनुसंधानात्मक होते हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', अशोक के फूल, आम फिर बौरा गए, 'एक

कुत्ता और एक मैना" 'शिरीष के फूल' आदि इनके सुन्दर निबंध हैं। जैनेन्द्र के वे ही निबंध सफल हैं जिनमें वे गम्भीर न होकर सरल स्वाभाविक रूप में पाठकों के सम्मुख आए हैं।—'आप क्या करते हैं', 'रामकथा', 'कहानी नहीं', 'बाजार दर्शन' आदि उनके सुन्दर निबंध हैं।

निबंध साहित्य में प्रयोग करनेवालों में सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि का विशेष महत्व है। संस्मरणात्मक निबंध लिखनेवालों में गुलाबराय और महादेवी वर्मा प्रमुख हैं। 'मेरी असफलताएँ' गुलाबाराय की अच्छी कृति है।

महादेवी वर्मा को 'अतीत के चलचित्र और 'स्मृति की रेखाएँ' लिखने में अद्भुत सफलता मिली है। इनकी भाषा का रूप अत्यन्त आभिजात्य है। रेखाचित्र लिखनेवालों में रामबृक्ष बेनीपुरी और प्रकाशचन्द्र गुप्त को बड़ी सफलता मिली है।

हल्की-फुल्की शैली में भावों की सुन्दर व्यंजना करनेवाले निबंध लिखने में श्री शिवपूजन सहाय का नाम स्मरणीय है। कवियों में 'प्रसाद' जी के निबन्ध भी विशेष महत्व के हैं। इधर प्रभाकर माचवे का 'खरगोश के सींग' और नामवर सिंह का 'बकलम खुद' निबंध संग्रह भी प्रकाश में आए हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त रामसिंह, ब्रिजलाल वियाणी, जानकीवल्लभ शास्त्री, मोहनलाल महतो वियोगी, नरहरि विष्णु गाडगिल के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

वर्त्तमान पीढ़ी के लेखकों में निबंध के प्रति अवहेलना का भाव दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना का विकास

हिंदी की समुचित आलोचना-साहित्य-धारा का सूत्रपात द्विवेदीजी के युग में हुआ। आलोचना-साहित्य के प्रारम्भ के लेखकों को प्रचलित परम्परा के रूप में रस-अलंकार के गुण-दोष दिखाकर विवेच्य रचना को

अच्छी या बुरी सिद्ध करनेवाली रीतिवादी पद्धति विरासत में मिली। यों तो भारतेन्दु-युग में भी पुस्तकों की समीक्षाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं, किन्तु हिंदी आलोचना की अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात द्विवेदीजी के समय से ही प्रारम्भ हुआ।

द्विवेदी आलोचकों के आचार्य थे। वे मूलतः एक शिक्षक, संशोधक तथा सुधारक थे। यही कारण है कि उनकी आलोचक-दृष्टि भाव से अधिक भाषा पर पड़ती थी। 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक में इन्होंने कालिदास की रचनाओं में से भाषा और व्याकरण के दोषों का संग्रह किया है। मिश्रबंधुओं ने उसी युग में 'हिंदी नवरत्न' में ६ प्रसिद्ध कवियों का आलोचनात्मक परिचय लिखा। उस ग्रंथ में 'देव' को उन्होंने सबसे बड़ा कवि सिद्ध किया, जिससे प्रेरित होकर पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक पुस्तक लिखी और उसे देव से श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। इस प्रकार हिंदी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात हुआ।

शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना-साहित्य को एक नवीन दीक्षा दी। इनके पहले के आलोचकों का ध्यान केवल रूप-विन्यास की सुघड़ता-कुरूपता पर रहता था, विषय-वस्तु पर नहीं। शुक्लजी ने सामाजिक पृष्ठभूमि में कवियों और उनकी कृतियों को रखकर साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को परखा और हिंदी आलोचना का अभिनय ढंग से विकास किया।

इसी युग में बाबू श्यामसुंदरदास तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी आलोचना के क्षेत्र में आए। इन लोगों ने एक वैज्ञानिक की तरह पूर्व-पश्चिम के साहित्य-सिद्धांतों का तटस्थ अनुशीलन करके काव्य और साहित्य के विविध अंग-उपांगों की व्याख्या की।

शुक्लजी के आदर्श को मानकर आलोचना के क्षेत्र में पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चंद्रबली पाण्डेय, बाबू गुलाबराय आदि ने अच्छे आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे।

आलोचना-साहित्य को चरम उत्कर्ष पर पहुँचानेवाले विद्वानों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, पं० नंददुलारे बाजपेयी, डा० सत्येंद्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पं० नंददुलारे बाजपेयी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि अपेक्षया अधिक व्यापक और उदार है। डा० नगेन्द्र पर फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का भी प्रभाव है। नये समीक्षकों में आपकी देन पुष्कल है।

आलोचना के क्षेत्र में इस समय विद्वानों का एक दल प्रगतिवादी दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा करने में व्यस्त है। इस दल के समालोचकों में शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय आदि प्रमुख हैं। इलाचंद जोशी, अज्ञेय, नलिनविलोचन शर्मा आदि मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के प्रमुख लेखक हैं।

हिंदी-आलोचना का विकास अब शास्त्रीय पद्धतियों और नई विचारधाराओं के माध्यम से हो रहा है। आशा है भविष्य में आलोचना-साहित्य का और भी समुचित विकास होगा।

प्रकरण—१२

हिन्दी के प्रमुख गद्य-लेखक

(स्थानाभाव के कारण यहाँ हिन्दी के सभी प्रमुख लेखकों का परिचय नहीं दिया जा सका है। ऐसे लेखक, जो प्रधान रूप से कवि हैं, उनका परिचय काव्य-खंड में दिया गया है। जिन लेखकों का परिचय दिया गया है, वह भी अत्यन्त संक्षिप्त है। लेखकों की सभी रचनाओं का उल्लेख भी नहीं किया जा सका है। वर्तमान युग के अनेक श्रेष्ठ लेखकों के केवल नाम का उल्लेख भर किया गया है, बहुत के नाम भी नहीं आ सके हैं। मैं सबसे क्षमा-याचना करता हूँ)।

बालकृष्ण भट्ट :—(जन्म सं० १९०१ मृ. सं० १९७१ ई०)— इन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यासों की रचना क्रमशः १८८६ ई० और १८९२ ई० में की। ये अच्छे निबंधकार भी थे। ये भारतेन्दु मंडल के प्रसिद्ध लेखक थे, इन्होंने संवत् १९३३ में 'हिन्दी प्रदीप' नामक एक पत्रिका निकाली जिसमें सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक सब प्रकार के छोटे-छोटे गद्य-प्रबंध वे तीस-बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। ये सामान्य रूप से स्वतंत्रद्रष्टा विचारक थे वे वर्तमान और प्रगति के समर्थक और परम्परा-निर्वाह के घोर विरोधी थे। उनके निबंधों के आकर्षक शीर्षक ही उनके मनमौजी स्वभाव के प्रमाण हैं—जैसे बातचीत, दीन, आँख, खटका आदि।

प्रतापनारायण मिश्र :—(जन्म सं० १९१३, मृ० सं० १९५१) ये लेखन-कला में भारतेंदु को ही आदर्श मानते थे, पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ भिन्नता भी लक्षित होती है। इनमें विनोदप्रियता विशेष थी, इससे उनकी वाणी में विनोदप्रिय वक्रता

की मात्रा अधिक है। कोई भी विषय हो उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। ये 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक थे। भाषा में यत्र-तत्र बैसवाड़ी शब्दों का तथा मुहावरों के प्रयोग भी मिलते हैं। अपने विचारों को मार्मिकता और व्यंगत्मकता से उपस्थित करना उनका अभीष्ट था। इसीलिये उनकी शैली में आत्मीयता और बाँकपन अधिक है। 'निबंध नवनीत', 'प्रताप पीयूष' तथा 'प्रताप समुच्चय' नाम से उनके तीन संग्रह प्रकाशित हैं।

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :—(जन्म सं० १६१२ मृ० सं० १६७६) इनकी शैली सबसे विलक्षण थी। ये गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले लेखक थे। कभी-कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझ कर रह जाते थे। अनुप्रास और अनूठे पद-विन्यास की ओर उनका ध्यान अधिक रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह देना ही उनका अभीष्ट नहीं था। इन्होंने कई नाटकों की भी रचना की, जिनमें 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग राम गवन' तथा 'वारांगना रहस्य' नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं। समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट और चौधरी साहब ने ही किया। ये 'आनंद कादंबिनी' पत्रिका के सम्पादक थे।

लाला श्री निवासदास :-(जन्म सं० १६०८, मृत्यु सं० १६४४) उन्होंने कई नाटक तथा उपन्यास की रचना की है। 'परीक्षा गुरू' नामक इनका उपन्यास हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। नाटकों में प्रहलाद-चरित्र, तप्तासंवरण नाटक, रणधीर और प्रेम-मोहिनी, संयोगिता-स्वयंवर आदि प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में इनका बड़ा आदर था। इनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना सोद्देश्य होती थी।

फ्रेडरिक पिन्काट :— ये इंगलैंड के रहनेवाले थे तथा वहीं रहकर हिन्दी सीखे थे। इन्होंने बालदीपक तथा विक्टोरिया चरित्र

नामक पुस्तकों की रचना की। ये इंगलैंड रहकर हिन्दी में लेख और पुस्तकें लिखते और हिंदी-लेखकों के साथ पत्रव्यवहार करते थे। हिंदी और उर्दू के झगड़े में इन्होंने हिंदी के पक्ष का समर्थन किया था। इनकी मृत्यु भारत में ही हुई।

पं. किशोरीलाल गोस्वामी :— (जन्म सं० १६२२ मृ० सं० १६८६) इन्होंने बहुत अधिक उपन्यासों की रचना की। इनके उपन्यासों में समाज के सजीवचित्र, वासनाओं के रूप रंग, चित्राकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी पाया जाता है। 'उपन्यास' नामक मासिक पत्र के ये सम्पादक थे। इनके छोटे-बड़े ६५ उपन्यास प्रकाशित हैं जिनमें तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, लवंगलता, लखनऊ की कब्र आदि प्रसिद्ध हैं।

बालमुकुन्द गुप्त :— (जन्म सं० १६२२ मृ० सं० १६६४) ये अपने समय के सबसे अधिक अनुभवी और कुशल सम्पादक थे। इन्होंने 'बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' नामक पत्रों का सम्पादन किया। पहले ये उर्दू पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और स्वयं उर्दू के अच्छे लेखक थे। इसीलिए इनकी भाषा में एक विशेष परिष्कार है। उनकी भाषा मुहावरेदार और वाक्य सरल, चुस्त और अर्थपूर्ण होते थे। हिंदी की गद्य-शैली के निर्माण में गुप्तजी का ऊँचा स्थान है। इनके निबन्ध हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि विषयों पर हुआ करते थे। 'भारतमित्र' में 'शिवशंभू का चिट्ठा' नामक जो लेख इन्होंने लिखा था, उसे आज भी लोग चाव से पढ़ते हैं।

बाबू श्यामसुंदर दास :—नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में एक आप भी थे। ये अंग्रेजी और हिंदी के अच्छे विद्वान् और प्रौढ़ लेखक थे। भाषाविज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। ये आजीवन हिंदी की सेवा करते रहे। इन्होंने आधुनिक हिन्दी के नये-पुराने लेखकों के संक्षिप्त

जीवनवृत्त 'हिंदी कोविद रत्नमाला' नामक ग्रंथ में संगृहीत कर प्रकाशित कराया। इनके ग्रंथों में पाश्चात्य आलोचनादर्श तथा साहित्य-सिद्धान्तों का अच्छा समावेश है।

चन्द्रधरशर्मा गुलेरी :—(जन्म सं० १६४०, मृ० सं० १६७६) गुलेरीजी संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, पाली, बंगला, हिंदी तथा मराठी सबके प्रकांड पंडित थे। इन्होंने वैदिक साहित्य, भाषा तत्त्व, दर्शन और पुरातत्व का गम्भीर अध्ययन किया था। जीवन के अंतिम वर्षों के पहले ये अजमेर मेयो कालेज के अध्यापक रहे। पीछे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल होकर आए। ये जैसे धुरंधर पंडित थे वैसे ही सरल और विनोदशील प्रकृति के थे। हिन्दी-साहित्य के संसार में गुलेरीजी तीन रूपों में आये—सम्पादक, निबंधकार और कहानीकार के रूप में। सम्पादक के रूप में उन्होंने 'समालोचक' पत्रिका का सम्पादन कार्य किया। इस पत्र द्वारा गुलेरीजी एक बहुत ही अनूठी गद्य-शैली लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे। ऐसा गम्भीर और पाडित्यपूर्ण हास और कहीं दुर्लभ है। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथाप्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इनके निबंध भी अनूठे होते थे। उनमें केवल लेखक की प्रगतिशील चेतना की ही छाप नहीं रहती थी, बल्कि शैली भी अत्यधिक सुष्ठु और परिमार्जित थी। 'मारेसि मोहि कुठाँव', 'कछुआ धरम'', 'संगीत', 'पुरानी हिंदी' आदि उनके प्रमुख निबंध हैं। गुलेरीजी ने केवल तीन कहानियाँ लिखीं और उनमें केवल एक कहानी 'उसने कहा था' लिखकर वे विश्व के अमर कहानीकारों में अमर हो गये। भाषा-शैली में पांडित्य और व्यवहारिकता का इतना सुंदर समन्वय कम ही देखने को मिलता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :—शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य को जो कुछ दिया, उसके लिए हिन्दी साहित्य चिरकाल तक उनका ऋणी

रहेगा। शुक्लजी प्रधानतः एक समालोचक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे उच्चकोटि के निबंधकार तथा कवि भी थे। वे हिन्दी के युगद्रष्टा आलोचक थे। उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर कवियों और उनकी कृतियों तथा साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को परखा और हिन्दी आलोचना का अभिनव ढंग से विकास किया। शुक्लजी का दृष्टिकोण नीतिवादी था। वे एक भिन्न कोटि के निबंधकार थे। शुद्ध आलोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त आपने मनोविकार सम्बन्धी अनेकों निबंध लिखे हैं। उनके ग्रंथों में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'त्रिवेणी', 'चिन्तामणि' आदि अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रंथ हैं।

प्रेमचंद :—(जन्म सं० १९३७ मृ० सं० १९९३) प्रेमचंदजी ने अपने जीवन के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है।—"मेरा जीवन सपाट समथल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीले, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है।" प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही लमही गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। माँ की मृत्यु हो गई थी। घर में सौतेली माँ थी। गरीबी और पारिवारिक उपेक्षा ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। गरीबी के कारण उन्हें ऊँची आधुनिक शिक्षा नहीं मिल सकी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे ट्यूशन तथा पुरानी पुस्तकें बेच कर भी नहीं कर सकते थे। १५ वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह हो गया था, किन्तु पत्नी से उनका नहीं बना, क्योंकि वह बड़ी कर्कशा थी। बहुत बाद में चलकर उन्होंने शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया।

बचपन से ही पुस्तकें पढ़ने का उन्हें बड़ा शौक था। उन्होंने उर्दू उपन्यासों का विशद अध्ययन किया था। साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी उर्दू के लेखक की हैसियत से आये। हिन्दी में कहानी-उपन्यास लिखने की प्रेरणा उन्हें मन्नन द्विवेदी से मिली। उनका जीवन अध्यापक के रूप में प्रारम्भ हुआ। बाद में वे स्कूल के डिप्टी इन्सपेक्टर बने, किन्तु

गाँधीजी की पुकार सुनकर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन के अन्तिम क्षण तक साहित्य-सेवा में लगे रहे।

हिन्दी में विकसित और उच्च श्रेणी के कहानी-साहित्य तथा उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ प्रेमचंदजी से ही हुआ, साथ ही उन्होंने साहित्य के इन दोनों अंगों को अपने उत्कर्ष पर भी पहुँचा दिया। "प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्प्रेषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे।" प्रेमचंद ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरतअंगेज़ कल्पना ही की। वे ईमानदारी से वर्त्तमान काल की अपनी वर्त्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे।

प्रेमचंद ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो अपने समस्त पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती उपन्यासकारों की अपेक्षा प्रतिनिधि मानव चरित्रों के निर्माण में सफल हुए हैं। उनके प्रतिनिधि मानव-चरित्र हर वर्ग और क्षेत्र के हैं। वे प्रारम्भ में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक थे, किन्तु जीवन के अंतिम दिनों में यथार्थवादी बन गए थे। 'गोदान' न केवल प्रेमचंद का अपितु हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। कहानीकार के रूप में उन्हें और अधिक सफलता मिली। वे कहानी लेखन-कला के अग्रदूत थे। प्रेमचंद की कला की लोकप्रियता का एक प्रधान कारण है भाषा-शैली। भाषा की सरलता, चलते मुहावरों का प्रयोग तथा हास्य और व्यंग्य का सम्मिश्रित व्यवहार उनकी भाषा-शैली के प्रधान आकर्षण हैं।

प्रमुख रचनाएँ:—प्रेमाश्रम, संग्राम, प्रेमपचीसी, प्रेमप्रसून, करबला, रंगभूमि, प्रेम-प्रमोद, प्रेम-प्रतिमा, प्रेम-द्वादशी, कायाकल्प, निर्मला, प्रेमतीर्थ, पाँच फूल, सप्त सुमन, समरयात्रा, प्रेम पंचमी, गबन, कर्मभूमि, सेवासदन, गोदान, मानसरोवर, पंचप्रसून, नवजीवन, दुर्गादास, कुछ विचार मंगलसूत्र आदि।

जैनेन्द्र कुमार :—जैनेन्द्र का जन्म सं० १९६२ में अलीगढ़ में हुआ। प्रेमचन्द के बाद श्रेष्ठ उपन्यासकारों में जैनेन्द्रजी एक हैं। विषयवस्तु, शैली, प्रवृत्ति, भाषा तथा अन्य दृष्टियों से वे नितान्त मौलिक कला लेकर हिन्दी-साहित्य में आए। इन्होंने पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को आधारभूत मानकर परख, सुनीता, त्यागपत्र और कल्याणी में, मध्यवर्ग के जीवन में यह समस्या विभिन्न स्तरों पर किस प्रकार उठती है, इस तथ्य को चित्रित किया है। जैनेन्द्र का साहित्य नितान्त नवीन है, उसमें मौलिकता की अतिशयता है। सामाजिक विश्वास को व्यावहारिकता देने के लिए हिन्दी कथा-साहित्य में, प्रथम बार जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से उसका अध्यन करने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष, समाज का संघर्ष माना है।

अज्ञेय :—अज्ञेय का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' है। इनका जन्म गोरखपुर जिले के फसिया गाँव में संवत् १९६८ में हुआ। ये भिन्न-भिन्न प्रान्तों के स्कूलों और विद्यालयों में शिक्षा पाये हुए हैं। इन्होंने उपन्यास तथा कविता के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया है। 'शेखर एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यासों की बड़ी ख्याति हुई है। 'विपथगा', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि इनके कहानी संग्रह हैं। 'इत्यलम्' इनकी कविताओं का संग्रह है। 'त्रिशंकु', 'हिन्दी साहित्य', 'ओ यायावर' आदि गद्य-ग्रंथ भी काफी प्रसिद्ध हैं।

अज्ञेयजी में हिन्दी गद्य की भाषा का अभूतपूर्व रूप निखरा है। इतना सुन्दर गद्य हिन्दी में पहले नहीं लिखा गया था। यह अंगरेजी गद्य के सभी गुणों से मंडित है। इनके साहित्य पर रोम्याँ-रोला, डी० एच० लारेंस, वाल्टेयर तथा टी. एस इलियट का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इनके उपन्यास और कहानियों में मनोविश्लेषण का ढंग अपूर्व है।

यशपाल :—आधुनिक युग के सर्व-श्रेष्ठ उपन्यासकारों और कहानीकारों में यशपाल का विशिष्ट स्थान है। प्रगतिशील साहित्य के सर्वाधिक समर्थ कलाकार यशपाल ही हैं। यशपाल की रचनाओं में देश-

द्रोही, दिव्या, मनुष्य के रूप आदि अत्यन्त ख्यातिलब्ध ग्रंथ हैं। 'मनुष्य के रूप' आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या को उद्घाटित करता है। पूँजी की सत्तावाले समाज में 'प्रेम' की निष्कलुष मानवीय भावना किस प्रकार विकृत होकर व्यावसायिक रूप धारण कर लेती है, 'मनुष्य के रूप' इसका सजीव चित्र है। 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'फूलों का कुरता' आदि इनके अनेक कहानी संग्रह हैं।

अन्य लेखक :—इन गद्य लेखकों के अतिरिक्त वर्तमान लेखकों में सर्वश्री राहुल सांकृत्याय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० नगेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द जोशी, वृंदावन-लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, शिवदानसिंह चौहान, बाबू गुलाब-राय, डा० रामविलास शर्मा, नलिन विलोचन शर्मा, शिवपूजन सहाय, माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, आचार्य बदरीदत्त शास्त्री, रांगेय राघव, रामानन्द सागर-केशरी, डा० देवराज, रामधारी सिंह दिनकर, राधिका रमणप्रसाद सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, अनूपलाल मण्डल, लक्ष्मी-नारायण सुधांशु, छबिनाथ पाण्डेय, वैद्यनाथ "नागार्जुन", कमलदेव नारायण, राधाकृष्ण प्रसाद आदि ने हिन्दी-साहित्य को अपनी अनूठी कलाकृतियों से भरा है और भरते जा रहे हैं। इन लेखकों के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी-साहित्य अब संसार के किसी भी श्रेष्ठ-साहित्य के सम्मुख खड़ा होने में समर्थ हो चुका है। व्याकरण के क्षेत्र में आचार्य रामलोचन-शरण तथा भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बाबूराम सक्सेना, मंगलदेव शास्त्री, धीरेन्द्र वर्मा के प्रयास स्तुत्य हैं।

इतिहासकारों की भूल

प्रस्तुत पुस्तक को लिखते-लिखते सहज ही मुझको सद्यः लिपिबद्ध एवं प्रकाशित इतिहासकारों की कृतियों पर दृष्टिपात करना पड़ा और मुझको खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यों कहने के लिये कई लेखकों ने इस विषय पर लेखनी उठायी है, परन्तु अधिकांश लोगों ने

मिश्रबंधु, शुक्लजी जैसे गण्यमान्य इतिहासकारों की कृतियों को अपनी भाषा और शैली में दुहराने के अतिरिक्त खोज से काम लेने का कष्ट कम उठाया है।

यदि हिन्दी की उन्नति की गतिविधि का विश्लेषण किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि भारतेन्दु के पूर्व तक यदि कछुए की गति रही तो भारतेन्दु युग में खरहे की गति, द्विवेदी युग में मोटर की गति तथा द्विवेदी युग के पाश्चात् वायुयान की गति से हिंदी उड़ी है। द्विवेदी युग तक हम हिंदी के उत्तम ग्रंथों अथवा ग्रंथकारों को उँगलियों पर गिन ले सकते थे। कई विषयों पर पाठ्य-पुस्तकों का अभाव खटकता था। परन्तु द्विवेदी युग के बाद जो आशातीत उन्नति हुई है, उसके क्या-क्या कारण हैं?

इतिहासकारों की भूल इन्हीं कारणों के अन्वेषण में हुई है। बहुधा इतिहासकारों ने उत्तम काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी इत्यादि रचयिताओं के चरणों पर फूल चढ़ाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी है। परन्तु इतने कलाकार कैसे पैदा हुए? यह वायुयान की गति आई कैसे और हिंदी की समृद्धि को बढ़ाने में किन-किन महापुरुषों ने हाथ बँटाया, इस ओर इतिहासकारों का बहुत कम ध्यान गया है। मेरा विचार है कि बिना इस अभाव को दूर किये हमारे साहित्य का इतिहास अधूरा रह जाता है।

जो हिंदी केवल उत्तरभारत की सम्पत्ति थी वह इस समय कश्मीर से कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक फैल गई है। सम्प्रति भारत ही को कौन पूछे, विदेशी भाषाओं में भी हिंदी की मौलिक कृतियों को भाषान्तर किये जाने का गौरव प्राप्त हुआ है। इतिहासकारों के लिये उचित हो जाता है कि जिस महापुरुषों ने इस महानयज्ञ में हाथ बँटाया है, उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करें।

मैं इस बात को महसूस करता हूँ कि यह एक गुरुतर कार्य है और ऐसी समीक्षा तभी सम्भव है यदि प्रांत-प्रांत में घूम-घूमकर हिंदी की गतिविधि पर दृष्टिपात करते हुए हिंदी के पुजारियों की छानबीन की जाय। इस प्रकार पर्यवेक्षण करके इतिहास तैयार किया जाय तो द्विवेदी युग से लेकर अब तक के इतिहास का एक पोथा तैयार हो जाय जो प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं किया जा सकता है। अतः मैं इस ओर इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित करके बिहार, उड़ीसा तथा नेपाल और निकट में जिन कारणों से हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार हुआ, उनका यथासम्भव वर्णन करके संतोष करूँगा।

मुझको यह बात बहुत अखरती है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी तथा हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने जो अथक चेष्टा हिंदी के प्रचार, प्रसार तथा राष्ट्रभाषा बनाने के लिये की, इसका उल्लेख इतिहासकारों ने नहीं किया है। महात्माजी ने हिन्दी सीखी। स्वयं हिंदी में भाषण तथा पत्रव्यवहार करते थे। एक बार भागलपुर में दीपबाबू की कोठी में महात्मा गाँधी के सभापति में १६२० में सभा हो रही थी। स्वनामधन्य सरोजनी नायडू का अंग्रेजी में भाषण समाप्त हुआ। महात्माजी बोले, "हिन्दुस्तान की बुलबुल ५५ मिनटों तक चहकती रही। मुझको भ्रम हो गया था कि मैं हिंदुस्तान में हूँ या लन्दन में।" इउ चुभते व्यंग्य का फल यह हुआ कि फिर किसी को अंग्रेजी में भाषण देने का साहस नहीं हुआ।

यद्यपि राष्ट्र के ये दोनों कर्णधार विशेषतः राजनैतिक आंदोलन में संलग्न रहे, परन्तु इनकी हिंदी सेवा के कारण ही इन दोनों को अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन पर आसीन करके इनको सम्मानित किया गया। परन्तु इतिहासकारों ने इनको भुला दिया।

महात्माजी बराबर नवजीवन में लिखते आये। अब तो इनके लेखों का संग्रह पुस्तकाकार कई प्रकाशकों ने निकाला है। 'राजेन्द्र बाबू

की आत्मकथा, बापू के कदमों में तथा चम्पारण में महात्मा गां
हिन्दी की चिर-निधि रहेगी।

स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक ने अमेरिका से लौटकर 'अमेरि
भ्रमण', 'संजीवनी बूटी' इत्यादि कई पुस्तकें लिखीं। ८-१० वर्षों त
घूम-घूमकर 'हिन्दी का बिगुल' बजाते रहे। परन्तु हम लोगों ने इ
विस्मृति के गह्वर में छोड़ दिया है।

पं० राहुल सांकृत्यायन :—बिहार के प्रमुख साहित्य-सेवियों
राहुल जी का स्थान अग्रगण्य हैं। राहुल जी भाषा, साहित्य, ध
दर्शन, समाज, राजनीति, इतिहास आदि सबके अद्भुत पारखी है
इनका अपना एक साहित्य है। अनेक भाषाओं के विद्वान तथा ए
सफल पर्यटक होने के कारण इनके साहित्य में दृष्टिकोण की उदार
एवं विषय की विविधता का दर्शन होता है। इन्होंने हिन्दी साहि
के विविध अंगों की पूर्ति की है। तिब्बत और भूटान में जाकर हिन्द
के प्राचीनतम रूप अपभ्रंश आदि के सम्बन्ध में इन्होंने जानका
प्राप्त कर तथा वहाँ की प्राचीन पांडुलिपियों की प्रतिलिपि क
हिन्दी भाषा और साहित्य को जो अनुपम देन दिया वह अनुपम है
आपकी दृष्टि अनुसंधानात्मक है। इन्होंने पचासों ग्रन्थ की रचना क
है जिनमें 'दर्शन-दिग्दर्शन' 'हिन्दी-काव्यधारा' आदि अत्यन्त पांडित
पूर्ण हैं। राहुल जी के समान अनेक भाषाओं के उद्भट विद्वान हिन्द
क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता।

आचार्य शिवपूजन सहाय :—श्री शिवपूजन सहाय का जन्म बिह
प्रान्त के शाहाबाद जिले में वि०स० १९५० की श्रावण कृष्ण त्रयोदशी
हुआ था। आपने सन् १९१२ ई० में आरा नगर के एक हाई स्कूल
मैट्रिक पास किया। उसी नगर के हाई स्कूलों में आप अनेक वर्षों त
हिन्दी-शिक्षक रहे। सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन में स्कूल छो
कर आपने पत्र-सम्पादक का काम शुरू किया। आप कई प्रसिद्ध प
के सम्पादकीय-विभाग में काम कर चुके हैं। मतवाला, माधु

समन्वय, जागरण, हंस, हिमालय आदि प्रतिष्ठित पत्रों से आपका विशेष सम्बन्ध रहा।

राजेन्द्र कालेज (छपरा) के हिन्दी-विभाग में आप दस वर्षों तक प्रोफेसर रहे। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन में आप उसकी साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष सन् १९५० ई० में हुए थे। सन् १९५० ई० से आप बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् नामक सरकारी प्रकाशन-संस्था के संचालक मन्त्री हैं। आपकी सभी रचनाओं का संग्रह उक्त परिषद् से प्रकाशित हुआ है।

आचार्य रामलोचन शरण:—वर्त्तमान शताब्दी के बिहारी साहित्य-सेवियों में जिस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री का नाम उल्लेखनीय है उसी प्रकार बाल-साहित्य के निर्माण के लिए हिन्दी व्याकरण तथा रचना की पुस्तकों के लिए लेखकों एवं कवियों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रकाशक तथा लेखक, भाषा-सेवी तथा साहित्य-सेवी सब दृष्टियों से आचार्य रामलोचन शरण का नाम उल्लेखनीय है।

ये १९१० ई० से ही हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा कर रहे हैं। बिहार के साहित्य-सेवियों में बाल-साहित्य को जन्म देने वाले लेखकों में आपका नाम सर्व प्रथम आता है। 'होनहार' तथा 'बालक' का सफल सम्पादन कर इन्होंने अपने सम्पादक रूप का भी सुन्दर परिचय दिया है। बाल-साहित्य का निर्माण इनकी सबसे महान उपलब्धि है। इन्हें बालकों के मनोविज्ञान परखने की एक अद्भुत शक्ति है। 'फुलवारी में शेर कूद गया' 'मैं चापलूस कुत्ता नहीं हूँ' हम शेर के बच्चे हैं' आदि कहानियों में इनकी विलक्षण शैली का रूप देखा जा सकता है।

आचार्य रामलोचन शरण प्रकाशक के रूप में भी विख्यात हैं। इनके द्वारा स्थापित 'विद्यापति प्रेस' तथा 'पुस्तक भण्डार' ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। "विद्यापति-हिन्दी सभा" दरभंगा के तत्त्वाव-

धान में सन् १९४२ ई० में इनकी स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई थी। इन दिनों ये 'विनय-पत्रिका' की टीका तथा तुलसी कृत रामायण का मैथिली पद्यमय अनुवाद करने में संलग्न हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी :—हिन्दी के वर्तमान समीक्षकों में द्विवेदीजी पांडित्य एवं प्रतिभा दोनों दृष्टियों से अनुपम हैं। साहित्य के प्रति इनका मानवतावादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण है। इन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक नई, उदार और वैज्ञानिक दृष्टि दी है। इन्होंने ऐतिहासिक और शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति की नींव डाली है। श्री शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के इतिहास और आलोचना के सम्बन्ध में जो मानदंड स्थिर किया था, उससे द्विवेदी जी का मानदंड बिलकुल भिन्न है। वस्तुतः ये दोनों आचार्य साहित्य को दो दिशाओं और दो भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। शुक्ल जी ने अपनी तर्कशैली की निपुणता, विचारों की अन्विति और दृढ़ता तथा सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टि के बावजूद उन तमाम स्रोतों और प्रभावों की उपेक्षा की है जिनका सम्यक् उद्घाटन और विवेचन द्विवेदी जी ने किया है। शुक्ल जी ने यदि हिन्दी-साहित्य को उसका इतिहास दिया है तो द्विवेदी जी ने सचमुच उस साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अधूरे कार्य को पूरा किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे के पूरक हैं, प्रतिद्वन्दी नहीं।"

इतिहास के क्षेत्र में 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' 'आदिकाल' तथा 'हिन्दी-साहित्य' द्विवेदी जी के मुख्य ग्रंथ हैं। समीक्षा के क्षेत्र में 'कबीर' 'नाथ सम्प्रदाय' 'मध्यकालीन धर्म साधना' प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद 'साहित्य का मर्म' आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार निबंध के क्षेत्र में 'अशोक के फूल' तथा उपन्यास में 'वाणभट्ट की आत्मकथा' इनकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। द्विवेदी जी साहित्य

का लक्ष्य मनुष्य का हित-साधन मानते हैं। 'कला' 'कला के लिए' वाले सिद्धान्त पर उनकी आस्था नहीं है।

बाबू गुलाब राय :—हिन्दी-समीक्षकों में बाबू गुलाब राय का आलोचना-साहित्य सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार का है। इनकी शैली को विद्वानों ने "समन्वय-पूरक व्याख्यात्मक शैली" के अन्तर्गत स्थान दिया है। 'हिन्दी-नाट्य विमर्श' 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' उनकी मुख्य सैद्धान्तिक कृतियाँ हैं तथा 'प्रबंध प्रभाकर' 'हिन्दी काव्य-विमर्श' 'प्रसाद की कला' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि कृतियाँ प्रयोगात्मक समीक्षा में आती हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी :—डा० भगवत स्वरूप मिश्र के शब्दों में "वाजपेयी जी में हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उनकी आलोचना पूर्णतः निगमनात्मक और इंगित शैली की कही जा सकती है। उन्होंने भारतीय अलंकार-शास्त्र से तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है।" उन्होंने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन बहुत कम किया है। ये काव्य में हृदय-स्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। काव्य की स्थूल उपयोगिता इन्हें मान्य नहीं है। 'हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी' 'जयशंकर प्रसाद' आदि इनकी मुख्य कृतियाँ है।

श्री जगन्नाथ राय शर्मा :—ये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रकांड विद्वान हैं। 'अपभ्रंश दर्पण' 'हमारा सांस्कृतिक साहित्य' ब्रज साहित्य सौरभ,' 'सूरसाहित्य दर्पण' निबंध रत्नाकर' आदि इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। आप सूर-साहित्य के माने हुए समीक्षक हैं।

श्री नलिन विलोचन शर्मा :—हिन्दीसाहित्य के आधुनिक समीक्षकों में नलिन जी प्रथम-श्रेणी के समीक्षक हैं। पाश्चात्य साहित्य

का व्यापक अध्ययन तथा समीक्षा के सिद्धान्तों में गहरी पैठ के कारण इनकी समीक्षा-पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत होती है। आप कवि, कहानीकार, निबंधकार तथा समीक्षक सभी रूपों में अपनी विशिष्ट-शैली के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'दृष्टिकोण' 'विष के दाँत तथा अन्य कहानियाँ आदि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

अन्य लेखक :—हिन्दी का वर्त्तमान गद्य-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त हिन्दी में सैकड़ों ऐसे प्रसिद्ध और विद्वान लेखक हैं जिनका महत्त्व अन्य किसी भी लेखक से कम नहीं है। स्थानाभाव के कारण मैं यहाँ उन सबका संक्षिप्त परिचय देने में भी असमर्थ हूँ, अतः केवल उनके नामों का उल्लेख करके ही संतोष धारण करूँगा। फिर कभी अवसर मिलने पर विस्तार पूर्वक सबका परिचय देने का प्रयत्न करूँगा।

हिन्दी के अन्य प्रसिद्ध गद्य लेखकों में श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० राम विलाश शर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, डा० माता प्रसाद गुप्त डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० देवराज, डा० विश्वनाथ प्रसाद, डा० श्री कृष्णलाल, डा० शिवनन्दन प्रसाद, डा० रामखेलावन पाण्डेय, डा० धर्मवीर भारती, डा० रांगेयराघव श्री हंसकुमार तिवारी, श्री केशरी, श्री नरेश, श्री शिवचन्द्र, प्रो० शिवबालक राय, श्री सुधांशु, श्री दिनकर, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शची रानी गुर्टू आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त परशुराम चतुर्वेदी डा० हरद्वारी लाल शर्मा, डा० एस. पी. खत्री डा. जगदीश गुप्त, कामेश्वर शर्मा आदि ने भी आलोचना के क्षेत्र में स्तुत्य प्रयास किया है। यहाँ प्रधानतः मैंने आलोचकों की चर्चा की है। कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जो एक साथ ही कवि, कहानीकार, उपन्यासकार तथा नाटककार के रूप में भी विख्यात हैं। उन लोगों की चर्चा पुस्तक के तत्संबंधी प्रकरणों में संक्षेप में की गई है।

———

प्रकरण—१३

आधुनिक काल

काव्य-खंड

संवत् १९०० से—२०१४ तक

भारतेंदु-युग

भाषा की दृष्टि से आधुनिक युग के काव्य-खंड को दो भागों में विभक्त करना होगा—ब्रजभाषा-काव्य-खंड और खड़ी बोली-काव्य खंड। कारण यह है कि आधुनिक काल के प्रारम्भ में गद्य के लिए तो खड़ी बोली सर्वमान्य बन गई, किन्तु पद्य में बहुत दिनों तक ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा। खड़ी बोली काव्य की अविछिन्न परम्परा महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय से चली। उनके पहले तक पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ी बोली की संधि-रेखा पर कुछ ऐसे भी कवि मिलते हैं जो एक ही साथ ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के कवि हैं।

ब्रजभाषा-काव्य की प्राचीन धारा :—ब्रजभाषा-काव्य की जो परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही थी वह महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय तक चलती गई। आधुनिक काल के प्रारम्भ से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय तक ब्रजभाषा के अनेक कवि हुए जिन्होंने सुन्दर ग्रंथों की रचना की। उन कवियों के नाम, परिचय तथा उनकी रचनाओं के नामों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

सेवक :—(जन्म सं० १८७२, मृत्यु स० १९३८)—ये काशी के रईस बाबू हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। इन्होंने नायिका-भेद पर

'वाग्विलास' नामक एक बड़े ग्रंथ की रचना की थी। ये बड़े रसिक जीव थे।

रीवाँ-नरेश महाराज रघुराज सिंह :—(जन्म सं० १८८०, मृ० सं० १९३६)—इन्होंने 'रामस्वयंवर', 'रुक्मिणी परिणय', 'आनंदांबुधि' और 'रामाष्टयाम' नामक ग्रंथों की रचना की। इनका 'रामस्वयंवर' एक वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य है। यह बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है।

सरदार :—इनका कविता-काल सं० १९०२ से सं० १९४० तक माना गया है। ये काशी नरेश महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'साहित्य-सरसी', 'वाग्विलास', 'षटऋतु', 'हनुमत भूषण', 'तुलसी भूषण', 'श्रृंगार संग्रह', 'राम-रत्नाकर' आदि कई ग्रंथ रचे। इनकी कई टीकाएँ भी अच्छी हैं, जिनमें सूर के 'दृष्टि-कूट' और 'बिहारी-सतसई' की टीका अधिक प्रसिद्ध हैं।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही :—ये अयोध्या के प्रसिद्ध सन्त थे। सं० १९१७ में इन्होंने 'विश्राम-सागर' नामक एक विशाल ग्रंथ लिखा, जिसमें अनेक पुराणों की संक्षिप्त कथा है। भक्तों में इस ग्रंथ का बहुत आदर है।

ललित किशोरी :—ये लखनऊ के रहनेवाले थे। इनका नाम कुंदनलाल था। पीछे ये वृंदावन में मंदिर (प्रसिद्ध साहजी का मंदिर) बनवाकर वहीं रहने लगे। भक्ति और प्रेम-सम्बन्धी इनके बहुत से पद और गजलें हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह :—इनकी चर्चा गद्य-खंड में गद्य-प्रवर्त्तक के रूप में हो चुकी है। इन्होंने 'मेघदूत' का पद्य में बड़ा ही सुन्दर अनुवाद किया था। शकुंतला के अनुवाद के पिछले संस्करण में इनके पद्य बहुत सरस हैं।

लछराम (ब्रह्मभट) :—इनका जन्म सं १८९८ में अमोढ़ा (जि० बस्ती) में हुआ था। ये राज दरबारों में घूमा करते थे और सब स्थानों पर इनका सम्मान होता था। प्रत्येक सम्मान करनेवाले

राजा के नाम पर इन्होंने कुछ-न-कुछ लिखा। बस्ती के राजा के नाम पर 'मान सिंहाष्टक', 'प्रताप रत्नाकर', 'प्रेम रत्नाकर' की रचना की, दरभंगा-नरेश के नाम पर—'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर' की रचना की, गिद्धौर-नरेश के नाम पर 'रावणेश्वर कल्पतरु' की रचना की तथा पुरनिया के राजा के नाम पर 'कमलानंद-कल्पतरु' की रचना की। ये अच्छे कवि थे।

गोविंद गिल्लाभाई:—इनका जन्म सं० १६०५ में भावनगर रियासत के सिहोर नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने 'नीति-विनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'षटऋतु', 'पावस पयोनिधि', 'समस्यापूर्ति-प्रदीप', 'वक्रोक्ति विनोद', 'श्लेषचन्द्रिका', 'प्रारब्धपचासा' 'प्रवीन सागर' आदि ग्रंथों की रचना की।

नवीन चौबे:—(जन्म सं० १६१५, मृ० सं० १६८६):—ये मथुरा के रहनेवाले अच्छे कवि थे।

भारतेंदु मंडल के ब्रजभाषा-कवि:—यह सत्य है कि विषय की दृष्टि से गद्य के साथ-साथ पद्य की भी नई दिशा और नया स्वर देनेवाले प्रथम व्यक्ति भारतेंदु ही थे, किन्तु भाषा की दृष्टि से काव्य में परिवर्तन लाने में वे असफल रहे। पद्य की भाषा उनकी भी ब्रजभाषा ही रही। सन् १८७६ ई० में उन्होंने खड़ी बोली में तीन कविताओं की रचना की थी, किन्तु तीनों मे वे असफल रहे। अपनी असमर्थता का दोषारोपण खड़ी बोली हिंदी पर करते हुए उन्होंने कहा था—"क्रिया इत्यादि प्रायः दीर्घ मात्रा में होती है, इससे कविता अच्छी नहीं बनती। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा ही में उत्तम होती है।" इस प्रकार भारतेंदु ने भी कविता के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त माना था। उनके शृंगार-रस के कवित्त-सवैयों का संग्रह 'प्रेममाधुरी' है तथा शृंगार और भक्ति के पद तथा गाने 'प्रेम-फुलवारी', 'प्रेम-मालिका' तथा 'प्रेमालाप' आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं। उनकी अधिकतर कविता कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर रचे पदों के रूप में ही हैं।

भारतेंदु-मंडल के कवियों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, राधाचरण गोस्वामी आदि भी भारतेंदु के साथ इस मत से सहमत थे कि कविता के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है और खड़ी बोली में सुन्दर कविता की रचना नहीं हो सकती। इन लोगों ने ब्रजभाषा में ही कविता की रचना की। इस प्रकार भारतेंदु की मृत्यु (सन् १८८५ ई०) तक गद्य और पद्य की दो भाषाएँ अलग-अलग बनी रहीं। भारतेंदु तथा उनके मण्डल के कवियों ने पद्य में ब्रजभाषा के रूप को ही अधिक सजाने और परिष्कृत करने का प्रयास किया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र मनमौजी व्यक्ति थे। उन्हें प्राचीन ढंग की श्रृंगारी कविता करने में अधिक आनन्द आता था। समस्यापूर्ति भी उनकी अच्छी होती थी। कभी-कभी लावनी बाजों के बीच बैठकर लावनियाँ बनाकर भी गाया करते थे।

उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रचनाएँ भी पुराने ढंग की हुआ करती थीं। समस्या-पूर्ति करने में ये भी बड़े प्रवीण थे। इन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित कजली, होली आदि गाने की बहुत चीजों की रचना की। 'कजलीकादंबनी' में उनकी बनाई कजलियों का संग्रह है। 'भारत-सौभाग्य' नामक नाटक भी इनका है।

ठाकुर जगमोहन सिंह सवैया लिखने में सिद्धहस्त थे। इन्होंने कवित्त-सवैयों में 'मेघदूत' का बहुत सुन्दर अनुवाद किया। इनके कवित्त-सवैये श्रृंगारी हुआ करते थे। इनकी रचनाओं के तीन संग्रह हैं—'प्रेम-संपत्तिलता', श्यामालता और 'श्यामा सरोजिनी'।

पं० अम्बिकादत्त व्यास टेढ़ी से टेढ़ी समस्याओं की पूर्ति भी बड़ी सफलता के साथ किया करते थे। इन्होंने बिहारी के दोहों पर कुंडलियों की रचना की थी जो 'बिहारी-विहार' नामक ग्रन्थों में संगृहीत हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त रामकृष्ण वर्मा बलवीर, राधाचरण गोस्वामी, डुमरॉंव निवासी पं० नकछेदी तिवारी, लाला सीताराम बी० ए० 'भूप', पं० विजयानन्द तिवारी आदि भी ब्रजभाषा में अच्छी कविता लिखते थे।

भारतेंदु मण्डल के बाहर के ब्रजभाषा-कवि:–भारतेंदु-मण्डल के बाहर के ब्रजभाषा कवियों में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर, श्री वियोगी हरि, श्री दुलारेलाल भार्गव तथा पं० रामनाथ ज्योतिषी के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने उस समय ब्रजभाषा में कविता की रचना की जब कि खड़ी बोली में कविता लिखना प्रारम्भ हो गया था।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर':—(जन्म सं० १६२१, मृ० सं० १६८६)—इनका जन्म काशी में हुआ था। ये सं० १६४० से ही ब्रजभाषा में कविता लिखने लगे थे। इनकी 'हिंडोल' पुस्तक बहुत प्रारंभिक रचनाओं में है। इन्होंने 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धव-शतक' नाम के तीन बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। अंगरेज कवि पोप के समालोचना सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य (Essay on Criricism) का रोला छंदों में अच्छा अनुवाद इन्होंने किया। शृंगार तथा वीर-रस की अनेक फुटकल रचनाएँ भी इनकी हैं। 'रत्नाकर' नाम से उन सब का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इनकी कविताएँ ब्रजभाषा के प्राचीन श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी की हैं। 'उद्धवशतक' इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

श्री वियोगीहरि :—ये बड़े ही प्रेमी रसिक जीव थे। ब्रज भूमि ब्रजभाषा तथा ब्रजपति के अनन्य उपासक थे। 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'प्रेमांजलि' में इनके भक्ति-भाव-पूर्ण रसीले पद संगृहीत हैं। गाँधीजी के आंदोलन से प्रभावित होकर इन्होंने 'चरखास्तोत्र', 'असहयोगवीणा' 'चरखे की गूँज, आदि, रचनाएँ लिखी थीं। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'वीर सतसई' है, जिस पर इन्हें प्रयाग के हिंदी-

साहित्य-सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार मिला था। यह काव्य दोहों में है और इसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वीरों की प्रशस्तियाँ हैं।

श्री दुलारेलाल भार्गव :—शुक्लजी ने इन्हें बिहारी की परम्परा का वर्त्तमान प्रतिनिधि लिखा है। एक दोहे में सफाई के साथ रस से स्निग्ध एवं वैचित्र्य से चमत्कृत कर देनेवाली प्रचुर सामग्री भर देने का गुण इनमें था। कुछ दोहों में देश-भक्ति, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय आंदोलन इत्यादि की भावना का अनूठेपन के साथ समावेश करके इन्होंने पुराने ढाँचे में नया मसाला ढालने की अच्छी कला दिखाई है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दुलारे दोहावली' पर टीकमगढ़ राज्य की ओर से २०००) का 'देव पुरस्कार' मिल चुका है।

इनके अतिरिक्त पं० रामनाथ ज्योतिषी को भी 'रामचन्द्रोदय काव्य' पर २०००) का देव पुरस्कार मिल चुका है। ब्रजभाषा काव्य-परम्परा क्षीणरूप में अब भी जीवित है।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली की संधि रेखा :—ब्रजभाषा काव्य परम्परा के अंत तथा खड़ी बोली-काव्य परम्परा के प्रारम्भ में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो एक ही साथ ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में रचना करते थे। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' और रायदेवी प्रसाद पूर्ण के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्रीधर पाठक :—(जन्म सं० १६३३ मृ सं० १६८५) खड़ी बोली में कविता लिखने की परम्परा प्रारम्भ करनेवाले श्रीधर पाठक ही थे। सन् १८८६ में इन्होंने 'एकान्तवासी योगी' की रचना की। ये ब्रजभाषा के भी कवि थे। इन्होंने 'ऋतुसंहार' का ब्रजभाषा-पद्य में अच्छा अनुवाद किया है। बाद में इन्होंने खड़ी बोली में 'श्रांत पथिक', 'ऊजड़ ग्राम' आदि ग्रंथों की रचना की।

रायदेवी प्रसाद पूर्ण :—'पूर्णजी' प्रारम्भ में ब्रजभाषा के कवि थे। ब्रजभाषा में इन्होंने 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका भी

निकाली थी। इनकी रचनाओं में देशभक्ति और राजभक्ति दोनों का मिश्रण है। 'संग्राम-निन्दा' आदि विषयों पर उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की थी। किन्तु बाद में खड़ी बोली में लिखने लगे। इनकी खड़ी बोली की रचनाएँ 'पूर्ण संग्रह' के नाम से प्रकाशित हैं। सं० १९७७ में इनकी मृत्यु हुई।

पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर':—(जन्म सं० १९१६, मृ० सं० १९८६) खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों में 'शंकरजी' की रचनाएँ अधिक सुष्टु हुआ करती थीं। समस्यापूर्ति करने में वे अनुपम थे। इनकी प्रारम्भिक कृतियों में कुछ उद्दंडता मिलती है। उसका कारण है कि आर्य-समाजी होने के कारण सनातनधर्मियों के अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ आदि की निंदा करने की उनकी प्रवृत्ति अधिक थी। 'गर्भरंडा रहस्य' में ऐसी ही रचनाएँ हैं।

बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री का खड़ी बोली-आन्दोलन:— ये मुजफ्फरपुर के रहनेवाले थे। सं० १९४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक छपाई। उस पुस्तक में उन्होंने सम्मति प्रकट की कि ब्रजभाषा और अवधी की रचनाएँ हिंदी की नहीं हैं। हिंदी की कविता हिंदी में होनी चाहिए। ब्रजभाषा के हिमायती कवियों ने इसका बहुत विरोध किया। खड़ी बोली के समर्थकों में श्रीधर पाठक, बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। बाबू अयोध्या प्रसाद जगह-जगह घूमकर लोगों को खड़ी बोली में कविता लिखने को प्रेरित करते रहे। ये हिंदी-भाषा का अर्थ केवल खड़ी बोली मानते थे, ब्रजभाषा तथा अवधी को हिन्दी से अलग भाषा मानते थे।

———

प्रकरण—१४

द्विवेदी-युग

पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने के प्रसंग को लेकर किस प्रकार विद्वानों के दो दल हो गए थे। खड़ी बोली का पक्ष-समर्थन करनेवालों में श्रीधर पाठक, अयोध्या प्रसाद खत्री तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रमुख थे। श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में 'एकांतवासी योगी' की रचना कर यह प्रमाणित कर दिया था कि खड़ी बोली में सुंदर काव्य की रचना हो सकती है। अयोध्या प्रसाद खत्री स्वयं कवि तो नहीं थे, किंतु 'काव्य में खड़ी बोली के प्रचार' को आंदोलन का रूप देकर उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किंतु इन सबसे अधिक महत्त्व का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। वे स्वयं तो उतने अच्छे कवि नहीं थे, किन्तु उनकी प्रेरणा से कितने व्यक्ति अच्छे कवि बन गए। छायावाद युग के पूर्ण प्रसार तक वे कवियों के प्रेरक और पथ-प्रदर्शक बने रहे।

संवत् १६६० में द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' (प्रयाग) पत्रिका का सम्पादन-कार्य ग्रहण किया। इस समय तक आते-आते खड़ी बोली में छिटपुट कविता की रचना होने लगी थी, किंतु कविगण खड़ी बोली मे ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग मनमाने ढंग से करते थे। व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों की भी भरमार कविताओं में रहती थी। द्विवेदी का प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ भाषा-संस्कार का आंदोलन आरम्भ करना। इस आंदोलन में उनके सहयोगी

गौरीशंकर मिश्र, कामता प्रसाद गुरु तथा पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी थे। द्विवेदीजी ने कवियों और लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता और सरलता की ओर आकृष्ट किया। कविता की शैली के रूप में उन्होंने इतिवृत्तात्मक, या यथातथ्य वर्णनात्मक शैली को ही आदर्श माना तथा इसी शैली में कविता लिखने के लिए उन्होंने कवियों को प्रेरित किया। उनकी स्वयं अपनी लिखी कविताएँ बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किंतु उन्होंने अपने सम्पादन-काल में जिन उदीयमान कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया, उनकी कृतियों से हिंदी-कविता गौरवशालिनी बनी।

द्विवेदीजी ने विषय की दृष्टि से भी कवियों के सामने एक नवीन आदर्श रक्खा। ऐसे तो राष्ट्रीय भावना तथा सुधारवादी भावना को काव्य के क्षेत्र में लाने का श्रेय 'भारतेंदु' को ही मिलेगा, किन्तु उनके युग में रीतिकाल से आती हुई श्रृंगार-भावना का महत्व भी काव्य क्षेत्र में बना ही रहा। द्विवेदीजी आदर्शवादी व्यक्ति थे, अतः उन्होंने काव्य में अमर्यादित श्रृंगार का वर्णन त्याज्य माना। यही कारण है कि द्विवेदी मंडल के कवियों के काव्य में हम श्रृंगार का वर्णन मर्यादा के भीतर ही पाते हैं। द्विवेदीजी काव्य को जीवन के लिए मानते थे। वे 'जीवन के लिए कला' के सिद्धांत के समर्थक थे। यही कारण है कि उनके मंडल के कवियों ने केवल उन विषयों पर कविता की रचना की है जिनका सम्बन्ध जीवन से है।

द्विवेदी-मंडल के कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि प्रमुख हैं। इन कवियों के अतिरिक्त द्विवेदीजी के मार्ग पर चलने वाले अनेक कवि छायावादी युग में भी हुए, जिनमें से माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द और श्यामनारायण पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी कवियों में

कालानुशरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति अपूर्व रूप से वर्तमान पाते हैं। यही कारण है कि इन कवियों में से किसी को भी हम किसी 'वाद' विशेष में नहीं बाँध सकते। हाँ, इन पर गाँधीवाद का पर्याप्त प्रभाव अवश्य पाते हैं, किन्तु गाँधीवाद कभी साहित्यिकवाद नहीं बन सका, अतः उन्हें पूर्ण गाँधीवादी भी नहीं कह सकते।

द्विवेदी-मंडल के कवि

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (कवि रूप में) :—द्विवेदीजी का पूर्ण परिचय गद्य-खंड में दिया जा चुका है। द्विवेदीजी कवि भी थे, किन्तु कवि-रूप में उनकी ख्याति नहीं हुई। वे पद-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक थे जिस प्रणाली में लिखनेवाले अनेक कवियों की बड़ी ख्याति हुई। द्विवेदीजी की कविता की भाषा इतिवृत्तात्म होने के कारण उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। उन्होंने संस्कृत वृत्तों का व्यवहार अधिक किया है, पर हिन्दी के चलते शब्दों में भी रचना की है। कुमारसंभव का अनुवाद 'कुमार-संभवसार' के नाम से उन्होंने किया जो बहुत सफल अनुवाद है। उनकी कविताओं के दो संग्रह 'काव्य-मंजूषा' और 'सुमन' नाम से प्रकाशित हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' :—(जन्म सं० १६२२, मृ० सं० २००४) जीवनवृत्त—'हरिऔध'जी का जन्म आजमगढ़ जिले के निजामाबाद ग्राम में हुआ था। सं० १६३६ में मिडिल पास करने के बाद काशी के क्वींस कॉलेज में अध्ययन के लिये गये, किन्तु स्वास्थ्य ठीक नहीं रहने के कारण शिक्षा स्थगित करनी पड़ी। फिर घर पर ही फारसी, उर्दू तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया। प्रारम्भ में मिडिल स्कूल में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया, फिर सं० १६४६ में कानूनगो

के पद पर नियुक्त हुए। सं० १६८० में सरकारी नौकरी छोड़कर उन्होंने काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक अध्यापक का कार्य स्वीकार किया और सं० १६६८ तक वहीं रहे। सं० २००४ में आजमगढ़ में इनकी मृत्यु हुई।

प्रमुख रचनाएँ—काव्य : रसिक-रहस्य, प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु प्रश्रवण, प्रेमाम्बु प्रवाह, प्रेम पुष्पहार, उद्बोधन, काव्योपवन, प्रियप्रवास, कर्मवीर, पद्यप्रमोद, बाल-विनोद, ऋतु मुकुर, वैदेही बनवास, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे। नाटक : प्रद्युम्न विजय, रुक्मिणी परिणय। उपन्यास : प्रेमकान्ता, ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधिखिला फूल। आलोचना ग्रंथ : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना इत्यादि।

काव्य परिचय:—ये प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। 'खड़ी बोली आन्दोलन' प्रारम्भ होने पर इन्होंने उर्दू के छन्दों में ठेठ खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया। जब महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से खड़ी बोली ने संस्कृत के छन्दों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया तब ये उस ओर भी बढ़े और सं० १६७१ में इन्होंने खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना की। इस ग्रंथ की बड़ी ख्याति हुई। इसमें 'हरिऔध' जी ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है। इसकी शैली वर्णनात्मक है।

हरिऔधजी का युग भाषा के प्रयोग का युग था। अतः गद्य एवं पद्य दोनों में इन्होंने भिन्न-भिन्न भाषा-शैलियों का प्रयोग किया। कहीं तो इनकी भाषा ठेठ बोलचाल की है, जिसमें उर्दू और फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है और कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों से लदी हुई समासबहुला भाषा है। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। गद्य और पद्य दोनों पर इनका समान अधिकार था, किन्तु इनकी सर्वाधिक ख्याति का कारण 'प्रियप्रवास' ही है।

'हरिऔध' जी का युग सुधारवाद का युग था। उस समय राष्ट्र-समाज तथा साहित्य सबमें सुधार के लिए एक नवीन चेतना की लहर उठ रही थी। इसका स्पष्ट प्रभाव 'हरिऔध' जी के साहित्य में परिलक्षित होता है। इनकी कविताएँ लोक-संग्रह की भावना से पूर्ण हैं।

मैथिलीशरण गुप्तः—गुप्त जी का जन्म सं० १९४३ में चिरगाँव (झाँसी) में हुआ। इनके पिता सेठ रामचरणजी राम के बड़े भक्त और अच्छे काव्य-प्रेमी थे। गुप्तजी की विशेष शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। ये १५-१६ वर्ष की अवस्था से ही कविता लिखने लगे थे। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ कलकत्ते से निकलनेवाले 'वैश्योपकारक' पत्र में छपा करती थी। इनकी 'हेमन्त' शीर्षक कविता देख कर महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था। सं० १९६३ से इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं।

'गुप्त' जी की कविता लिखने की प्रेरणा देनेवाले मुंशी अजमेरी और पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। सं० १९६६ में इनकी सबसे पहली पुस्तक 'रंग में भंग' प्रकाशित हुई। इसके बाद इनकी दूसरी रचना 'भारत भारती' प्रकाशित हुई, तभी से ये राष्ट्रकवि माने जाने लगे। इस पुस्तक की बड़ी ख्याति हुई। यह मौलाना हाली के 'मुसद्दस के ढंग पर लिखी गई थी। इसके बाद 'गुप्त' जी ने 'जयद्रथ वध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रबन्ध-काव्य की ओर इनका झुकाव प्रारम्भ से ही अधिक था। आगे चलकर इन्होंने 'साकेत' और यशोधरा' नामक दो महाकाव्यों की रचना की। 'साकेत' गुप्तजी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह ग्रन्थ 'कवियों के द्वारा उपेक्षिता' लक्ष्मण-वधू उर्मिला के चरित्र को लेकर लिखा गया है। 'यशोधरा' में गौतम-पत्नी यशोधरा का चरित्र है।

'झंकार' और 'मंगलघट' 'गुप्त' जी की स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। इन्होंने 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' नामक तीन छोटे-छोटे पद्यबद्ध रूपक की भी रचना की है। शुक्लजी के शब्दों में—

"गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि वे निस्सन्देह कहे जा सकते हैं।" उन्होंने आगे लिखा है—"गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले अथवा मद में झूमनेवाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमे है।"

गुप्तजी सच्चे अर्थ मे राष्ट्रकवि हैं। वे एक मर्यादा-प्रेमी कवि हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी है। प्रारम्भ से अन्त तक के उनके सभी काव्य प्रेरणा देनेवाले हैं। कुछ दिन पूर्व उनका महाभारत की कथा पर आधारित 'जय भारत' नामक काव्य प्रकाशित हुआ है। अपने युग में गुप्तजी सर्व-प्रिय कवि रहे हैं। खंड काव्य, गीत काव्य, प्रबन्ध काव्य, आख्यानक काव्य तथा मुक्तक काव्य सभी प्रकार के ग्रन्थों को लिखकर गुप्तजी ने खड़ी बोली के साहित्य-भंडार को भरा है।

खड़ी बोली में सफल कविता करनेवाले प्रारम्भिक कवियों में गुप्तजी का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनकी कविताओं की भाषा सरल और मधुर है। संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग होते हुए भी क्लिष्टता नहीं आने पाई है। कहीं-कहीं तुक मिलाने के लिए इनकी कविताओं में अनुपयुक्त शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, किंतु ऐसा सर्वत्र नहीं।

मुख्य रचनाएँ :— रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत-भारती, पद्य प्रबंध, किसान, वैतालिक, शकुन्तला, पत्रावली, पंचवटी, अनघ, स्वदेश संगीत, हिंदू, त्रिपथगा, शक्ति, गुरुकुल, विकट भट, झंकार, साकेत, यशोधरा, मंगलघट, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, कुणाल गीत, चंद्रहास, तिलोत्तमा, त्रिशंकु, शांति, आस्वाद, गृहस्थ गीत, जय भारत।

पं० रामचरित उपाध्याय :—इनका जन्म सं० १६२६ में गाजीपुर में हुआ था। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे। पहले ये ब्रजभाषा में

कविता लिखते थे, बाद में खड़ी बोली में लिखने लगे। 'रामचरित चिंतामणि' नामक प्रबंध-काव्य के अतिरिक्त इन्होंने बहुत स्फुट कविताओं की भी रचना की थी।

पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न :—इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में छपा करती थीं। इन्होंने 'गीतांजलि' का हिंदी में अनुवाद किया था तथा 'शिशुपाल वध' के दो सर्गों का अनुवाद 'हिंदी माघ' के नाम से सं० १९८५ में किया था।

पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय :—ये एक अच्छे कवि थे। 'सरस्वती' में इनकी कविताएँ प्रकाशित होती थीं। इन्होंने 'मृगी दुःख मोचन' नामक एक सुन्दर पुस्तक की रचना की जिसमें खड़ी बोली के सवैयों में एक मृगी की दारुण परिस्थिति का मार्मिक चित्रण है।

इन कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी-मंडल में और अनेक कवि हुए जिन्होंने खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ लिखीं।

द्विवेदी-मंडल के बाहर के कवि

द्विवेदी युग में अनेक ऐसे भी कवि हुए जिनके काव्य का स्वरूप द्विवेदीजी के निर्धारित स्वरूप से भिन्न प्रकार का था। ऐसे कवियों में पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा पं० रूपनारायण पांडेय मुख्य हैं। इन कवियों में से कई कवि ऐसे थे जो व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में कविता की रचना किया करते थे।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' :—ये बड़े भावुक तथा सरस-हृदय कवि थे। ये व्रजभाषा, उर्दू तथा खड़ी बोली तीनों में कविता लिखते थे। इनकी बहुत-सी कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से भी प्रकाशित हुई थीं। इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं—'प्रेमपचीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक क्रंदन'।

पं० रामनरेश त्रिपाठी :—इनका जन्म सं० १९४६ में हुआ। खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों की रचना की है—मिलन, पथिक और स्वप्न। ये काव्य-ग्रंथ सन् ३० के राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी युवक के कंठहार बने हुए थे। ये तीनों मौलिक खंड-काव्य हैं, जिनकी कथावस्तु कल्पना-प्रसूत है। इनके अधिकतर पात्र उनकी देश-भक्तिपूर्ण भावनाओं के प्रतीक बनकर आए हैं। इन पुस्तकों में प्रकृति का बड़ा ही मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है। तीनों काव्य देश-भक्ति की भावना से प्रेरित हैं। इनमें प्रेम और कर्त्तव्य का सुंदर द्वंद्व चित्रित हुआ है। राष्ट्र-प्रेम की भावना को सर्वप्रथम रमणीय और आकर्षक रूप प्रदान करने का श्रेय त्रिपाठीजी को ही मिलेगा।

छायावाद की प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम इन्हीं की 'स्वप्न' नामक पुस्तक में दिखाई पड़ीं। त्रिपाठीजी की कल्पना मानव-हृदय के सामान्य मर्म-पथ पर चलनेवाली हैं। इनका 'ग्रामगीत' संग्रह इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है। इनका 'कविता कौमुदी' नामक संग्रह भी बहुत उपयोगी ग्रंथ है।

लाला भगवानदीन :—(जन्म सं० १९२४, मृ० सं० १९८७) पहले ये ब्रजभाषा में पुराने ढंग की कविता करते थे, पीछे 'लक्ष्मी' का सम्पादक हो जाने पर खड़ी बोली में कविता करने लगे। हिंदी-शब्द-सागर के सम्पादकों में एक ये भी थे। खड़ी बोली में वीरों के चरित्र पर बोलचाल की फड़कती भाषा में इन्होंने जोशीली रचना की है। इनके तीन संग्रह—'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' और 'वीर पंचरत्न' प्रकाशित हैं। इन्होंने प्राचीन 'काव्य-ग्रन्थों' पर अच्छी टीकाएँ भी लिखी हैं। इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'नवीन वीन' या 'नदी में दीन' नाम से प्रकाशित हैं।

पं० रूपनारायण पाण्डेय :—ये पहले ब्रजभाषा में लिखते थे, किंतु बाद में खड़ी बोली में भी कविताएँ लिखीं। इनकी कविताओं में बड़ी भावुकता है। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' नाम से प्रकाशित है। संस्कृत और हिंदी दोनों के छंदों में इन्होंने कविता की रचना की है।

पं० सत्यनारायण कविरत्न :—(जन्म सं० १६१६, मृ० सं० १६७५) ये खड़ी बोली-युग में ब्रजभाषा के कवि थे। इन्हें ब्रजभाषा, ब्रजभूमि तथा ब्रजपति से अपार प्रेम था। इनकी कविताएँ भारतेंदु की नूतन प्रणाली पर या भक्तिकाल के कवियों के ढंग पर लिखी गई हैं। ये अंगरेजी, हिंदी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे।

शुक्लजी ने उनके जीवन के संबंध में लिखा है—"बाल्यकाल से लेकर जीवनपर्य्यन्त वे आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर नामक गाँव में ही रहे। उनका जीवन क्या था, जीवन की विषमताओं का छाँटा हुआ एक दृष्टांत था। उनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य, सब एक दुःखभरी कहानी के संबद्ध खंड थे। वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्य-समाज के तीखेपन में पगी महिला। इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्नजी की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई।"

ये बचपन से ही कविता लिखने लगे थे। जीवन की थोड़ी विषमता के बीच भी वे हँसमुख और प्रसन्न रहते थे। उनके लिये उनका जीवन ही एक काव्य था, अतः जो बातें प्रत्यक्ष उनके सामने आती थीं उन्हें काव्य का रूप-रंग देते उन्हें देर नहीं लगती थी। किसी का कोई अनुरोध टालना तो उनके लिए असंभव था। यह जानकर बराबर लोग किसी-न-किसी अवसर के उपयुक्त कविता बना देने को उन्हें बाध्य करते थे। इससे उनकी अधिकांश रचनाएँ

सामयिक हैं, जैसे स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू आदि की प्रशस्तियाँ।

इनकी बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'भ्रमरदूत' में यशोदा ने कृष्ण के पास संदेश भेजा है। उसमें देश की वर्तमान दशा का भी पर्याप्त वर्णन है। उन्होंने 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' तथा मेकाले के अंगरेजी काव्य 'होरेशस' का सुंदर अनुवाद किया है।

उनकी भाषा अत्यन्त सजीव ब्रजभाषा है। उसमें बोलचाल के रूप का प्रयोग के कारण बड़ी सरसता और स्पष्टता आ गई है। बहुत से ऐसे शब्दों और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है जो परम्परागत काव्य-भाषा में नहीं मिलते।

प्रकरण—१५

छायावाद-युग

परिस्थिति :—छायावाद का युग नवीन चेतना और नवीन क्रान्ति का युग था। इस युग में आकर हम धर्म, समाज, राजनीति तथा साहित्य में सर्वत्र एक अभूतपूर्व क्रान्ति को जन्म लेते हुए नहीं, प्रचार पाते हुए देखते हैं। धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द तथा राजा राममोहनराय ने आर्य-समाज तथा ब्राह्म-समाज की स्थापना कर, जो बहुत पूर्व अपना आन्दोलय चलाया था, उन आन्दोलनों की अंतिम परिणति इसी युग में हुई। गाँधीजी के सर्वव्यापी मानवतावादी सिद्धान्तों ने धर्म तथा समाज में छाये हुए आन्दोलनों का बिल्कुल दूसरा ही रूप दे दिया। सम्प्रदायों के द्वारा परिचालित आन्दोलन लोगों को एक संकुचित परिधि से निकालकर दूसरी संकुचित परिधि में डाल रहे थे, जो समस्या का अंतिम समाधान नहीं था। गाँधीजी ने मनुष्य को व्यापक दृष्टिकोण दिया। राजनीति के क्षेत्र में भी गाँधीजी के प्रभाव से लोगों में नवीन चेतना की लहर अँगड़ाई लेने लगी थी। छोटे से बड़े तक सबका उद्देश्य राष्ट्र-स्वातंत्र्य था। लोगों के अदम्य साहस और प्रचंड विश्वास को देखकर विदेशी सरकार का कलेजा काँपने लगा था। देश में औद्योगिक क्रान्ति का भी जन्म हो चुका था।

नये-नये स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना हो जाने के कारण लोग बड़ी शीघ्रता से पाश्चात्य साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने लगे थे। अंगरेजी साहित्य का परिचय प्राप्त करने के बाद युवकों का साहित्य सम्बन्धी आदर्श बदलने लगा था। द्विवेदी-परम्परा की इतिवृत्तात्मक शैली तथा घोर नैतिकता से युवकों को अरुचि उत्पन्न होने लगी

थी। इसी समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' भी प्रकाशित हुई, जिस पर उन्हें नोवेल पुरस्कार मिला। युवकों का ध्यान उस ओर भी बड़ी तेजी से गया।

इस प्रकार छायावाद का युग सभी दृष्टियों से नवीन चेतना और क्रान्ति का युग था।

छायावाद का परिचय

डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छायावाद का संक्षिप्त परिचय देते हुए लिखा है—"छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया था जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, जो वक्तव्य विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्तना और अनुभूति के रङ्ग में रँगकर अभिव्यक्ति करती थीं, जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी, जिनमें छंद, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी। छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा शैली में अपने को अभिव्यक्त किया। सभी उल्लेख योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी। जिन कवियों ने शास्त्रीय और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव दिखाया, उनके इस भाव का कारण तीव्र सांस्कृतिक चेतना ही थी।"

डा॰ नगेन्द्र के अनुसार युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तमुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितिओं ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव-वृत्ति को

छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।" किन्तु केशरीजी का मत है—"छायावाद मूलतः प्रेम-सौन्दर्य काव्य है। यही इसका प्रकृत रूप है और इसी रूप में इसका मूल्यांकन होना चाहिये। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है क्योंकि उसमें अनेक मांसलताएँ हैं। वह संघर्ष की हार से उत्पन्न भी नहीं है क्योंकि उसके जन्मकाल में आर्थिक संकट उतना तीव्र नहीं था। वह द्विवेदी-काल की शुष्कता के प्रति रसिकता की प्रतिक्रिया है। छायावाद खड़ी बोली में सौन्दर्य-भावना के पुनरुत्थान का पहला युग था। छायावाद के सभी कवि सौन्दर्यजीवी थे। 'कुत्सित कुरूप' में रूप-निर्माण करने की प्रवृत्ति परवर्ती है। उनमें सौन्दर्य की एक बुभुक्षा-सी है। अपनी सौन्दर्य-बुभुक्षा की तृप्ति के लिये एक ओर उन्होंने मधुवन (प्रकृति) की ओर देखा है और दूसरी ओर 'निखिल छवि की छवि, नारी की ओर। उनकी चिन्ता के केन्द्र में नारी बैठी थी। नारी उनके सौन्दर्य की सीमा थी। उनके उपचेतन ने प्रकृति में नारी का ही यौवन, विलास और विरहदैन्य की छाया देखी है। पंत ने उसकी वयःसन्धि की धूप-छाँह को, प्रसाद ने उसके यौवन-विलास को, निराला ने उसकी रति-क्रीड़ा और शक्ति को और महादेवी ने उसकी अतृप्त वेदना को वाणी दी है।"

इस प्रकार छायावाद के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रारम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पं० शुक्ल जैसे आलोचकों ने छायावादी कवियों पर पाश्चात्य कविता का अनुकरण करने का आरोप लगाया था। बाद में जब छायावादी कविता को मान्यता प्राप्त हो गई तो हिन्दी-आलोचकों ने यह स्वीकार कर लिया कि छायावादी कविता हमारे देश की राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही पनपी और फली-फूली है और इसकी मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है।

प्रारम्भ में छायावाद के आलोचकों ने इसे रहस्यवाद से अभिन्न मानकर इसकी बड़ी कटु आलोचना की। शुक्लजी ने लिखा है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है। × × छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में हैं। × × छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चलनेवाली महादेवी वर्मा हैं। 'पंत', 'प्रसाद', 'निराला' इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।" किन्तु आज स्पष्ट हो गया है कि छायावाद न तो रहस्यवाद था और न काव्य की मात्र एक शैली।

छायावाद को अपने जन्म से ही आलोचना की तीव्र दृष्टि सहनी पड़ी। उस समय इसकी भावभूमि इतनी अस्पष्ट थी कि नासमझी और रूढ़िवादिता के कारण स्वागत की अपेक्षा उसे परिहास, व्यंग्य, विरोध तथा संकीर्णता का निरन्तर सामना करना पड़ा। किन्तु छायावाद अपनी सरसता, नवीनता, व्यंजकता तथा सौंदर्य के कारण विरोधों के सम्मुख अप्रत्याशित रूप से विजयी हुआ।

छायावाद की आज तक जितनी भी परिभाषाएँ दी गईं सबसे कुछ-न-कुछ अव्याप्ति या अति व्याप्ति या भ्रान्ति है। वस्तुतः साहित्य के किसी 'वाद' को परिभाषा में बाँधने का प्रयास ही उचित नहीं है। कारण यह है कि 'वाद' का आरोप लेखकों या कवियों की रचनाओं पर किया जाता, न कि लेखक या कवि किसी वाद के आधार पर साहित्य की रचना करते हैं। प्रत्येक युग की अपनी विशेषता होती है जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। अतः प्रत्येक युग का साहित्य अपने आप में नवीन होता है जिस पर आलोचक भिन्न-भिन्न वादों का आरोप करते हैं।

छायावाद भी साहित्य-जगत में एक नवीन क्रान्ति लेकर आया। तत्कालीन युग को प्रभावित करनेवाले जितने भी तत्त्व थे सबका प्रभाव

छायावाद पर पड़ा था। उसमें अंगरेजी के रोमांटिक कवियों का भी प्रभाव तथा रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का भी। उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी था तथा अतृप्त इच्छाओं की अभिव्यक्ति भी। उसमें उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट भी था तथा मानवतावादी दृष्टिकोण भी। उसमें असीम ओर अनन्त के आलिंगन की आकांक्षा भी थी तथा स्थूल के प्रति करुणा का भाव भी। उसमें विरह-वेदना का लहराता हुआ अपार समुद्र भी था तथा सम्भोग की चिर तृप्ति थी।

छायावाद भाव, भाषा, शैली तथा छंद सभी दृष्टियों से एक नवीन सफल साहित्यिक प्रयास था। प्रारम्भ में छायावादी कवियों का प्रधान विषय नारी, प्रकृति तथा प्रेम था। किन्तु आगे चलकर वे जीवन के गायक भी बने। छायावाद साहित्य के क्षेत्र में एक महदनुष्ठान की भूमिका ही नहीं, उसका परिपाक भी था।

जैसा कि महादेवी ने कहा है—'छायावाद का दर्शन सर्वात्मवाद का दर्शन है।" छायावादी कवियों ने नारी, प्रकृति, जीवन और जगत सबको एक नवीन दृष्टिकोण से देखा है। छायावाद की प्रारम्भिक कविता को देखकर कुछ आलोचकों ने इसे पलायनवाद भी कह दिया था, किन्तु बात ऐसी नहीं है। छायावादी कवियों की प्रौढ़ावस्था की कविताओं में जीवन का स्वर सबसे अधिक सशक्त है। तीव्र भावुकता और कल्पना की प्रांजलता की दृष्टि से छायावादी साहित्य हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट अंश है। यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक प्रमुख धारा है।

छायावाद के चार प्रमुख कवि हैं—जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा।

छायावादी कवि

जयशंकरप्रसाद :—(जन्म सं० १९४६, मृ० सं० १९९४)

जीवन-वृत्त :—'प्रसाद' जी का जन्म काशी में हुआ था। इनके

पिता का नाम देवी प्रसाद (सुँघनी साहु) था जो एक सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। 'प्रसाद' जी की शिक्षा ८वीं कक्षा तक ही हुई थी। इन्होंने घर पर ही संस्कृत, फारसी, अँगरेजी तथा हिंदी की शिक्षा प्राप्त की थी। बाल्यावस्था से ही साहित्य की ओर इनकी अधिक अभिरुचि थी।

मुख्य रचनाएँ :—काव्य : चित्राधार (ब्रजभाषा), प्रेमराज्य, कानन-कुसुम, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्त्व, प्रतिध्वनि, आँसू, झरना, लहर, कामायनी।

नाटक : उर्वशी (चंपू), करुणालय, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कंदगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

उपन्यास : कंकाल, तितली। कहानी : छाया, आकाशदीप, आँधी, इन्द्रजाल। निबंध : काव्यकला तथा अन्य निबंध।

कवि परिचय :— प्रसाद' जी छायावादी कविता के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे, जो कविताएँ 'चित्राधार' में प्रकाशित हैं। सं० १९७० से उन्होंने खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया। खड़ी बोली की उनकी प्रारम्भिक कविताएँ कानन-कुसुम, महाराणा का महत्त्व, करुणालय (गीति-नाट्य) तथा प्रेम-पथिक में प्रकाशित हुईं। इन कविताओं में छन्द आदि की दृष्टि से कुछ नवीनता तो आई, किन्तु छायावाद की विशिष्टताएँ बाद में चलकर 'झरना' में दृष्टिगोचर हुईं जिसका प्रकाशन संवत् १९७५ में हुआ। छायावाद का प्रारम्भ इसी पुस्तक से माना जाना चाहिए। किन्तु 'झरना' में भी 'प्रसाद' के प्रौढ़ कवि का दर्शन नहीं होता है।

संवत् १९८८ में 'प्रसाद' की महत्त्वपूर्ण कृति 'आँसू' प्रकाशित हुई। छायावादी कविता के प्रारम्भिक इतिहास में 'आँसू' का विशिष्ट स्थान है। 'आँसू' में 'प्रसाद' ने 'प्रेमवेदना' को दिव्यता से मण्डित

कर दिया है जिसकी गोद में सुख-दुःख दोनों पलते हैं। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—"प्रसाद के 'आँसू' ने निराशा और अनिश्चितता को अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रतिबिम्बित किया। निराशावाद और नियतिवाद का गहरा अवसाद इसमें व्यक्त हुआ जिसने महादेवीजी के चिरन्तन पीड़ावाद, बच्चन के हालावाद और 'अंचल' के भोगवाद की आत्मकेन्द्रित और अहंवादी प्रवृत्तियों को प्रेरित किया।" कुछ विद्वानों के अनुसार 'आँसू' के निराशावाद का कारण 'प्रसाद' पर बौद्ध दर्शन के दुःखवाद का प्रभाव था। जो भी हो, भाषा की व्यंजकता, नाद-सौन्दर्य, शैली भावों की तीव्रता और कल्पना की सूक्ष्मता की दृष्टि से 'प्रसाद' का 'आँसू' हिन्दी-साहित्य में अनुपम काव्य है।

लहर में विविध अर्थभूमियों पर 'प्रसाद' जी ने अपनी कल्पना दौड़ाई। शुक्लजी के शब्दों में "लहर से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरल करती रहती है। उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को सरस करने के लिये कही जा सकती है और अखिल मानव-जीवन को भी।" विद्वानों के अनुसार लहर की कविताओं में 'आनन्दवाद' की झलक मिलती है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'प्रसाद' को कुछ विद्वानों ने 'आँसू' तथा 'लहर' की कुछ कविताओं के आधार पर रहस्यवादी कवि भी माना है। इस सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। उन्होंने लिखा है—"छायावाद के प्रथम उन्मेष के अनेक कवियों ने अपनी बात को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। जो बात परिपाटीविहित रसज्ञता के प्रेमियों को लौकिक दृष्टि से खटकनेवाली लग सकती है वही बात आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर अच्छी लग सकती है। इसीलिये शुरू-शुरू में छायावादियों ने अपनी रचनाओं को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। × × इसीलिए सभी छायावादी

रहस्यवादी कहे जाने लगे।" उन्होंने आगे लिखा है—"रहस्यवादी के चित्त में किसी-न-किसी रूप में परम प्रेममय, परम आनंदमय, लीला-निकेत, चिरन्तन प्रिय का विश्वास अवश्य होना चाहिए। दो प्रकार से यह विश्वास आ सकता है—(१) चिन्तन-मनन से और (२) भीतर की पीड़ा और व्याकुलता की अनुभूति के द्वारा। प्रथम श्रेणी के रहस्य-वादी प्रसादजी हैं और दूसरी श्रेणी के महादेवीजी प्रमुख हैं। × × जिस आध्यात्मिक अनुभूति में कवि किसी ऐसे प्रियतम की सत्ता में विश्वास करता है जिसके साथ प्रकृति और मानवात्मा की लीला निरंतर चलती रहती है। वही रहस्यवादी कहा जा सकता है और इस दृष्टि से 'प्रसाद' और महादेवी की कविताओं में रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हुई है।" द्विवेदीजी तथा अन्य विद्वानों के इस प्रकार के विश्वास का मैं खंडन तो नहीं करता, किन्तु मेरे विचार से 'प्रसाद' के काव्य में रहस्यवादिता का भ्रम सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति की अवगुंठनता के कारण होता है जो द्विवेदी-युग की घोर नैतिकता का परिणाम है। मूलतः 'प्रसाद' रहस्यवादी कवि नहीं हैं।

'प्रसाद' जी की अन्तिम कृति 'कामायनी' है। महाकाव्य की भव्यता तथा आत्मा की विराटता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में 'राम-चरितमानस' के बाद अगर कोई महाकाव्य लिखा गया तो वह 'कामा-यनी' ही है। 'कामायनी की कथा एक पौराणिक-वृत्त पर आधारित है, किन्तु यह वृत्त तो एक रूपक है जिसके माध्यम से 'प्रसादजी' ने मनुष्य के भौतिक और भावनात्मक विकास और आधुनिक जीवन के आन्तरिक वैषम्य की वास्तविकता को ही चित्रमयी भाषा में प्रतिबिम्बित करने का विराट् आयोजन किया है। काव्य के मुख्य पात्र मनु, इड़ा और श्रद्धा पौराणिक से अधिक प्रतीकात्मक हैं। इस काव्य का मूल संदेश यही है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय के बिना तथा बुद्धि और हृदय के पारस्परिक सहयोग के बिना न तो पूर्ण मानवता का निर्माण हो सकता है और न संसार में शांति की ही स्थापना हो सकती है।

'कामायनी' की भाषा-शैली के सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है—"प्रसाद की काव्य-शैली में नवीनता और उनके भाषा-प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और काव्यानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया है। इस प्रकार प्रसादजी की वस्तु-कल्पना के महत्त्व को स्वीकार कर उक्त कल्पना को पूर्ण काव्यात्मक आच्छद में व्यक्त करने के उच्च काव्य-कौशल को भी स्वीकार करना पड़ेगा। तभी परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में हमें कोई हिचक नहीं होती।"

प्रसादजी को गद्य के क्षेत्र में भी समान रूप से सफलता मिली है। नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार तथा निबंधकार के रूप में भी वे अपनी विशिष्ठता के लिए अद्वितीय हैं। यह गद्यखंड में दिखाया जा चुका है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जीवनवृत्त :—'निरालाजी' का जन्म सं० १९५३ में बसंत-पंचमी के दिन बगाल के महिषादल स्टेट में हुआ। बालक की ओज तेजमय मुखाकृति के अनुरूप सूर्यकान्त नाम रखा गया। निराला के पिता पं० रामसहायजी गढ़ाकोला (जिला—उन्नाव) के रहनेवाले थे। वे महिषादल स्टेट में नौकरी करते थे और राजा के प्रियपात्र थे। निराला का जन्म चूँकि बंगाल में हुआ था इसलिए बँगला उनकी मातृभाषा के समान ही थी। जिस समय वे १०वीं कक्षा में पहुँचे उस समय तक महिषादल स्टेट के राजपुस्तकालय की अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत की सैकड़ों पुस्तक पढ़ चुके थे। पढ़ने के साथ ही साथ बन्दूक चलाना तथा घुड़दौड़ करना इनके प्रधान व्यसन थे।

हाई स्कूल की परीक्षा की चर्चा करते हुए 'सुकुल की बीवी' में लिखा है—"और लड़कों ने पूरी शक्ति लगाई थी, इसलिये परीक्षाफल

निकलने से पहले तरह-तरह से हिसाब लगाकर अपने-अपने नम्बर निकालते थे। मैं इसलिये निश्चिंत था कि मैं जानता था कि गणित की नीरस कापी को पद्माकर के चुहचुहाते कवित्तों से मैंने सरस किया है, फलतः परीक्षा-समुद्र से लौटते वक्त, दूसरे तो रिक्त-हस्त लौटे, मैं दो मुट्ठी बालू लेता आया।" किसी ने उनसे कह दिया कि प्रतिभाशाली व्यक्ति कभी परीक्षाओं के चक्कर में नहीं पड़ते, स्वयं रवीन्द्रनाथ नाइन्थ पास हैं। उन्होंने सोचा मुझे रवीन्द्र से कम थोड़े होना है और परीक्षा नहीं दी ताकि केवल नवीं कक्षा पास रहें।

निराला की शादी १४ वर्ष की अवस्था में ही हो गई थी। इनकी पत्नी मनोहरादेवी को हिन्दी का बहुत सुन्दर ज्ञान था। 'गीतिका' की भूमिका में निराला ने स्वयं स्वीकार किया है कि हिन्दी सीखने की प्रेरणा इन्हीं से मिली थी। निराला की माँ की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी, संवत् १९७३ में पिता की मृत्यु भी हो गई। फिर तीन ही वर्ष के बाद संवत् १९८० में पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया। इन विपत्तियों ने निराला को अस्थिर बना दिया। उन्होंने कुछ दिनों तक महिषादल में नौकरी की, किन्तु मन नहीं लगने के कारण नौकरी छोड़कर घर चले आए। इसी समय उन्होंने अपनी प्रसद्धि रचना 'जूही की कली' को 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा था, किन्तु महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा वह रचना लौटा दी गई थी।

'निराला' को एक पुत्र के अतिरिक्त एक पुत्री भी थी जिसका नाम सरोज था। दुर्भाग्य से विवाह के एक ही वर्ष बाद उसकी भी मृत्यु हो गई। इस प्रकार माता, पिता, पत्नी और पुत्री की मृत्यु तथा आर्थिक संकट सबने मिलाकर उनके जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला। तबसे घर से विरक्त होकर साहित्य-साधना में ही लीन रहे हैं।

कवि-परिचय :—सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में निराला के समान विराट् और अक्खड़ व्यक्तित्व का एक ही कवि हुआ है और वह निस्सन्देह कबीर हैं। आधुनिक युग के कवियों में सबसे अधिक सशक्त

और प्रौढ़ प्रतिभावाले कवि 'निराला' हैं। अपने जीवन में चारों ओर से जितना अधिक विरोध, आक्षेप तथा कटु आलोचना का प्रहार 'निराला' को सहना पड़ा है, उतना शायद ही किसी अन्य कवि को सहना पड़ा हो। किन्तु आज सभी बाधा-बादलों को पार कर उनका व्यक्तित्व-सूर्य सम्पूर्ण साहित्य-गगन को अपनी प्रतिभा-कान्ति से उद्भासित कर रहा है और उनकी काव्य-धारा पर्वत को फोड़कर निकलनेवाले निर्भर के समान अपने रस-स्रोत से काव्य-रसिकों की हृदय-भूमि को आप्लावित कर रही है।

'पंत' जी ने अपनी कविता 'अनामिका' के कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति' में लिखा है :—

"छंद बंध ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा।
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्भर सी निःसृत,—
गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित!
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर!
शिली भूत सौन्दर्य, ज्ञान, आनन्द अनश्वर
शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर।
शुभ्र कल्पना की उड़ान, भव भास्कर कलरव,
हंस, अंश वाणी के, तेरी प्रतिभा नित नव,
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज।
अमृत-पुत्र कवि, यशः काय तव जरा मरण जित,
स्वयं भारती से तेरी हृतंत्री झंकृत।"

(पंत—युगवाणी)

निरालाजी बचपन से ही कविता लिखने लगे थे। उनका साहित्यिक जीवन 'समन्वय' नामक पत्रिका के सम्पादक के रूप में प्रारम्भ हुआ।

उसके बाद वे 'मतवाला' के सम्पादक बने। इसी समय सेठ महादेव प्रसाद ने इन्हें 'निराला' उपनाम दिया। इस समय तक वे बहुत कविता लिख चुके थे। 'जूही की कली' की रचना बहुत पहले हो चुकी थी तथा 'पंचवटी प्रसंग' नामक एक गीत-नाट्य की भी रचना मुक्त-छन्द में कर चुके थे।

संवत् १९८६ में 'परिमल' प्रकाश में आया। 'परिमल' की कविताओं में व्यक्त कवि का संयम, उसका उदात्त अंतःस्वर, करुणा से सहज द्रवित-हृदय की विशालता, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध उसका मनोवांछित दर्प एक शक्तिशाली व्यक्तित्व का सूचक है। भावों के सूक्ष्म सौन्दर्य, दार्शनिक गहराई, अर्थ की गम्भीरता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और वस्तु की विविधता के नाते 'परिमल' की कविताएँ उस समय तक के छायावादी काव्य-साहित्य में अनुपम थीं। 'परिमल' के बाद 'गीतिका' और 'गीतिका' के बाद 'अनामिका' का प्रकाशन हुआ। गीतिका गीतियों का संग्रह है। भावों की ऐसी सुसम्बद्धता और कोमलता, मानवीय भावनाओं की उदात्त अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। 'अनामिका' उनक प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें हमें निराला के अत्यन्त प्रौढ़ कवि का दर्शन होता है। 'अनामिका' की कविताएँ अलग-अलग अपने-आप में महाकाव्यत्व की गरिमा से युक्त हैं। 'सरोज स्मृति' तथा 'राम की शक्ति' पूजा' के टक्कर की कविता हिन्दी में लिखी नहीं गई। 'तुलसीदास' की रचना के बाद 'निराला' को विद्वानों ने एक स्वर से महाकवि मान लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते' और 'अर्चना' में निरालाजी ने कविताओं के शरीर पर से छायावादी काव्याभरण उतार कर उन्हें सहज-सरल रूप में प्रस्तुत किया है तथा उन्हें युग की सामान्य समस्याओं के मर्म से मण्डित किया है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"वे आरम्भ से ही विद्रोही कवि के रूप में हिन्दी में दिखाई पड़े। गतानुगतिकता के प्रति तीव्र विद्रोह उनकी कविताओं में आदि से अन्त तक बना रहा। व्यक्तित्व की

जैसी विविध अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं में हुई है वैसी अन्य छायावादी कवियों में नहीं हुई है। सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यन्त परुष अभिव्यक्ति ही निराला की कविताओं का प्रधान आकर्षण है। निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने कविताएँ तो लिखी ही हैं, निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि भी लिखे हैं।"

निराला जी के आरम्भिक प्रयोग छन्द के बंधन से मुक्ति पाने का प्रयास है। 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"मनुष्य की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है।" उन्हीं की पंक्तियाँ हैं—

"आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू—
प्रिये छोड़कर छन्दों की बन्धन मय छोटी राह।
गज गामिनि! वह पथ तेरा संकीर्ण कटकाकीर्ण।"

पं० शुक्ल जैसे निराला के कटु आलोचक को भी मानना पड़ा है—"संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने ही किया है।"

निराला के काव्यत्व की गरिमा का मूल्यांकन करने की क्षमता अभी बहुत कम हिन्दी-पाठकों में है। यही कारण है कि निराला का विराट् साहित्य अभी तक पाठकों के बड़े वर्ग के द्वारा उपेक्षित ही रहा है। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—"निरालाजी ने शास्त्रोक्त आधार पर कोई महाकाव्य नहीं रचा है, किन्तु समग्र रूप से उनका काव्य इस युग की प्रवृत्तियों का एक महाकाव्य ही है, जिसमें राष्ट्रीय चेतना और हमारे सांस्कृतिक-जीवन और

चिन्तन की भी धाराएँ अभिव्यक्ति पा गई हैं। उनके अलग-अलग गीत इस महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं।"

जीवन भर के निरन्तर संघर्षों ने आज इस महाकवि को जर्जर बना दिया है तथा सम्पूर्ण युग की उपेक्षा-राशि ने उसे गम्भीर और विक्षिप्त बना दिया है, किन्तु उसके काव्य में उसका भव्य व्यक्तित्व हिमालय के उत्तुंग शुभ्र शिखर के समान वर्त्तमान युग को तथा आनेवाले असंख्य युगों को चुनौती देता हुआ व्यंग्य से मुस्कुराता रहेगा।

मुख्य रचनाएँ:—काव्य : अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता, वेला, नये पत्ते आदि हैं।

गद्य-ग्रंथ :—अप्सरा, अलका, लिली, कुल्लीभाट, सुकुल की बीवी, बिल्लेसुर बकरिहा, काले कारनामे, चतुरी चमार, चाबुक, रवीन्द्र-कविता-कानन, समाज आदि।

श्री सुमित्रानन्दन पंत

जीवनवृत्त :—'पंतजी' का जन्म संवत् १९५८ में अल्मोड़ा के कौशानी नामक गाँव में हुआ। इनकी माता सरस्वतीदेवी का देहान्त इनके जन्म के कुल ६ घण्टे के बाद ही हो गया। ये फूफी की गोद में पले। इनके पिता पं० गंगादत्तजी पंत सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके चार पुत्रों में पंतजी सबसे छोटे थे। पंतजी का नाम गोसाईंदत्त पन्त था, किंतु बिहार के एक सज्जन का नाम सुमित्रानन्दन सहाय इन्हें बहुत अच्छा लगा और इन्होंने अपना नाम सुमित्रानन्दन पन्त रख लिया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा बनारस के जयनारायण हाई स्कूल में हुई। इसके बाद इलाहाबाद के म्योर कॉलेज में नाम लिखाया। किन्तु सं० १९७८ में गाँधीजी से प्रभावित होकर कॉलेज छोड़ दिया, तब से साहित्य की सेवा में लग गए।

केशरीजी ने पंत का शब्दचित्र लिखा है—"अत्यन्त कोमल शरीर, कौशल से कढ़े लहरोंवाले रेशमी बाल, दीप्त गौर मुखमंडल और

स्वप्निल आँखें—हिन्दी के प्रियदर्शी कवि पंत।" सरस्वती के भूतपूर्व सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल कहा करते थे कि पंतजी के बालों में भी कविता है। पंतजी कई बार सख्त बीमार रहकर स्वयं डाक्टर बन गए हैं। लोगों की हस्तरेखा और जन्मकुंडली देखना इनका प्रधान व्यसन है। कपड़ों और बालों का बेहद शौक है। अब तो बूढ़े हो चले हैं।

मुख्य रचनाएँ :—उच्छ्वास, वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, पल्लविनी, स्वर्णधूलि, स्वर्णकिरण, मधुज्वाल, युगपथ, उत्तरा रजतशिखर, उत्तर-शती, पाँच कहानियाँ आदि।

कवि-परिचय :—छायावादी कवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय कवि पंत हैं। कोमल भाव, कोमल भाषा, कोमल कल्पना और कोमल छन्द के सबसे सफल कवि पंत हैं। जैसा कि इन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि इनकी कविताओं पर सर्वाधिक प्रभाव कूमचिल प्रदेश की प्रकृति का है। पंतजी के शब्दों में—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिनका श्रेय जन्मभूमि कूमचिल प्रदेश को है।"

पंतजी पर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों का, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरोजिनी नायडू, कालिदास, मैथिलीशरण गुप्त का तथा बाद की कविताओं पर महर्षि अरविन्द का गहरा प्रभाव पड़ा है। पंतजी ने स्वयं लिखा है—"पल्लव-काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी कवियों—मुख्यतः शैली, वर्डसवर्थ, कीट्स और टेनीसनसे विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन-युग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी स्वीकार करता हूँ।"

पंत की प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' में संगृहीत हैं। उन्हें देखने पर 'गीतांजलि' का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी अप्रस्तुत रूपों का मूर्त्तविधान करनेवाली लाक्षणिक शैली का निखार इन प्रारम्भिक रचनाओं में भी स्पष्ट है। प्रकृति और मानव-जीवन के प्रति एक कैशोर

जिज्ञासा और रहस्य-भावना की ही प्रधानता है, यद्यपि स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ और रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से 'विश्वप्रेम का रुचिर राग, उनके सहज मानववादी हृदय को आकर्षित करने लगा था। 'वीणा' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम का उल्लास इतना प्रबल है कि कवि किसी बाल-जाल में अपने लोचन उलझा देने को तैयार नहीं है; लेकिन 'ग्रन्थि' में पंतजी का यह किशोर उल्लास असफल प्रेम की सघन वेदना में परिणत हो गया। इसमें एक छोटे से प्रेम-प्रसंग का आधार लेकर युवक कवि ने प्रेम की आनन्द-भूमि में प्रवेश, फिर चिर विषाद-गर्त्त में पतन दिखाया है। समाज के द्वारा किस प्रकार स्वभावतः उठा हुआ प्रेम कुचल दिया जाता है, यही इस कहानी के द्वारा कवि ने दिखाया है। यद्यपि इस पुस्तक में कैशोर-सुलभ भावना का प्रयोग है; किन्तु भाषा और भावों की अभिव्यक्ति में पर्याप्त प्रौढ़ता है।

पंतजी की पहली प्रौढ़ रचना 'पल्लव' है जिसका प्रकाशन संवत् १६८४ में हुआ। छायावाद के विकास के इतिहास में 'पल्लव' की कविताओं का जितना महत्त्व है उससे कम महत्त्व पुस्तक की भूमिका का नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका को विद्वानों ने छायावाद का 'मेनिफेस्टो' कहा है। 'पल्लव' मे प्रथम बार पंतजी ने नये काव्यादर्श के प्रतिमान स्थिर किये और काव्य-रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण किया। पंत की प्रसिद्ध कविता—'परिवर्तन' पल्लव में ही संगृहीत है। उन्होंने लिखा है—"पल्लव और गुंजन काल के बीच में मेरा किशोरभावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है।"

'पल्लव' के उपरांत 'गुंजन' में हम पंतजी को जगत और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर और बढ़ते हुए पाते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष-बोध से अतृप्त होकर कल्पना की रुचिरता से तृप्त होने और बुद्धि-व्यापार करने से क्लान्त होकर रहस्य की छाया में विश्राम करने की प्रवृत्ति भी साथ-साथ बनी हुई है।" (पं० शुक्ल) 'गुंजन' की कविताओं में उनकी

कल्पना, आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याण की भूमियों पर विचरण करती हुई सुख-दुःख में समत्व स्थापित करने का प्रयास करती हुई दीखती है। इसमें कवि ने सुख-दुःख से भरे यथार्थ-जीवन का गीत गाया है। पंत के शब्दों में—"मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुंदरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करता हुआ पाता हूँ।"

गुन्जन के बाद की कविताओं में मानव-जीवन की संभावनाओं के प्रति आस्थाशील कवि की कामनाएँ विविध रूप चित्रों के द्वारा व्यक्त हुई हैं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को वाणी न देकर प्रगतिशील मानवता की आकांक्षाओं को उन्होंने बार-बार प्रार्थना के रूप में मुखरित किया है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएँ हिन्दी-काव्य के लिए एक नये पथ का निर्देश करती है। इनमें 'पल्लव' की अलंकार सज्जा और मांसलता नहीं है, किन्तु जीवन के मूर्त्त-चित्रों की कमी नहीं है। शुक्लजी ने लिखा है—"अब तक कवि (पंत) लोक-जीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा, अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उस पर उसकी गति-विधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े। अब वह जगत् और जीवन में जो कुछ सौन्दर्य-माधुर्य है अपने लिए उसका स्तबक बनाकर तृप्त नहीं हो सकता। अब वह दुःख-पीड़ा, अन्याय, अत्याचार के अंधकार को फाड़कर मंगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमंगल के साथ वह संघर्ष दिखाना चाहता है जो गत्यात्मक जगत् का कर्म-सौंदर्य है।"

अपनी परवर्ती रचनाओं में पंत कवि नहीं रह कर मनीषी बन गये हैं। वे भावुकता से दूर हटकर बौद्धिक बन गये हैं। उनकी दृष्टि दार्शनिक की हो गई है। गाँधीवाद, मार्क्सवाद तथा अरविंद के अति-मानववाद तीनों का सम्मिश्रण उनके परवर्ती काव्य स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, उत्तरा, युगपथ तथा रजतशिखर सबमें पाया जाता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"उनके (पन्त के) विकास के तीन उत्थान हैं। प्रथम वे छायावादी कवि हैं, दूसरे में वे समाजवादी आदर्शों से चालित हैं और तीसरे में आध्यात्मिक।" इस प्रकार पंत के कवि रूप को भी हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—छाया० वादी पंत, प्रगतिवादी पंत और अध्यात्मवादी पंत।

पन्त मूलतः गीति काव्य के कवि हैं। पंत की प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा की कोमलता अपनी सीमा पर है। वे सौन्दर्य की महिमा का अनासक्त साक्षी कवि हैं। छायावाद का महान् आंदोलन पंत के समान नेता पाकर ही सफल और लोक-प्रिय हो सका। हिन्दी काव्य-साहित्य में पंतजी का एक विशिष्ट स्थान है और अपनी विशिष्टता में वे अकेले हैं।

महादेवी वर्मा

जीवन :—महादेवी वर्मा का जन्म सं० १६६४ में फर्रुखाबाद में हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० की परीक्षा पास की और इस समय प्रयाग महिला-विद्यापीठ में प्रिंसिपल हैं।

मुख्य रचनाएँ :—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत, यामा, दीपशिखा। उन्होंने 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' तथा शृङ्खला की कड़ियाँ नामक संस्मरणात्मक शब्दचित्रों की भी रचना की है, जो हिन्दी-साहित्य में अपने भाषा-सौंदर्य, शैली की विलक्षणता और भावों की मार्मिकता के लिए अनुपम हैं।

कवि-परिचय :—आधुनिक हिन्दी साहित्य की महिला-कलाकारों में महादेवी वर्मा सर्वश्रेष्ठ हैं। आलोचक इन्हें आधुनिक युग की मीरा कहकर पुकारते हैं। अगर भाषा तथा भाव के स्थूल विधान को हटाकर केवल मर्म की दृष्टि से तथा विरहानुभूति की तीव्रता की दृष्टि से देखें तो मीरा और महादेवी में बहुत अन्तर नहीं है।

प्रारम्भ में महादेवी वर्मा छायावाद की कवियित्री के रूप में साहित्य के रंगमंच पर आयीं, किन्तु बाद की रचनाओ में अनुभूति इतनी सूक्ष्म

और तीव्र हो गई कि उसका प्रेम सांसारिक प्रेम के विरह से नहीं जोड़ा जा सकता। शुक्लजी के शब्दों में—"छायावादी कहे जानेवाले कवियों में महादेवीजी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं। उस अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूटकर झलक मारती रहती हैं। उसके आगे मिलन-सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं।"

गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को मिली वैसी और किसी को नहीं। वे मधुर गीतों की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री हैं। संस्कृत के कवि जयदेव के गीतगोविंद, मिथिला के कवि विद्यापति की पदावली, बंगाल के कवि चंडीदास के पद, सूर का 'भ्रमर गीत' तथा मीरा के भजन में गीतितत्त्व के जिस रूप-माधुर्य, मार्मिकता और प्रवाह का दर्शन होता है, उन्हीं का विकास हम महादेवी के गीतों में पाते हैं। कला तथा भाव दोनों दृष्टियों से महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य को चरम उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया है।

महादेवी का काव्य आँसुओं का महासमुद्र है, किन्तु उस समुद्र का मर्म-जल खारा नहीं, अमृतोपम मधुर है। आत्मा की विरह-वेदना रूपी आँधी से उसमें उत्ताल तरंगें उठा करती हैं; किन्तु आश्चर्य है, उसमें जीवन का जलजात भी मुकुलित होता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"महादेवी शुरू से ही अधिक संवेदनशील हैं। उनमें अनुभूति की तीव्रता प्रसाद से अधिक है। इसीलिये ये प्रसाद के सामने लम्बे रूपकों का निर्वाह नहीं कर पातीं। वे पूर्णरूप से गीति काव्यात्मक प्रकृति की हैं।" महादेवी के गद्य में संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देनेवाले दुःख, आत्मीयता, करुणा और सहानुभूति का रूप व्यक्त हुआ है तो उनकी कविताओं में काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है। आध्यात्मिक दर्शन और विशेषकर बुद्ध

की करुणा ने उनकी वेदना की अनुभूति को लोक-दृष्टि और उदात्त आधार दिया है। व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता, मर्मस्पर्शिता और चित्रमय व्यंजन के कारण महादेवी की गीत अनूठे और अपूर्व बन गये हैं।

———

स्वच्छन्दतावादी धारा

छायावाद-युग के अन्य कवि

पं० माखनलाल चतुर्वेदी :—इनका जन्म संवत् १९४५ में हुआ था। इनकी कविताएँ 'एक भारतीय आत्मा' के उपनाम से प्रकाशित होती रही हैं। खड़ी बोली-काव्य में राष्ट्रीय जागरण का शंखनाद करने वाले प्रारम्भिक कवियों में आप अग्रगण्य हैं। इनकी कविताएँ राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। कवि के अतिरिक्त ये कुशल लेखक भी हैं। इनके लेखों की भाषा एवं शैली विलक्षण होती है। इनकी कविताओं का संग्रह—हिम किरीटनी, हिम तरंगिनी, कैदी और कोकिला आदि के नाम से प्रकाशित हैं। 'साहित्य देवता' इनके निबंधों का संग्रह है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाम का एक नाटक भी लिखा है।

रामकुमार वर्मा :—इनका जन्म संवत् १९६२ में हुआ। इनकी कविताओं में भी छायावाद और रहस्यवाद के लक्षण मिलते हैं। समाजोन्मुखता का परित्याग कर अब व्यक्तिवाद, आत्मनिष्ठ हो जाता है, तब स्वयं अपने को सारे विश्व का केन्द्र मानकर चलने की प्रवृत्ति भी उसमें मुखर हो उठती है। रामकुमार वर्मा में भी इस प्रवृत्ति की अनुगूँज सुनाई पड़ती है।" इनकी कविता छायावादी शैली और काव्य-वस्तु से अपने को मुक्त करके नहीं चली। ये गद्य लेखक के रूप में अधिक सफल हैं। इनकी कविताओं के संग्रह—अंजलि, अभिशाप, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण आदि हैं। गद्य में इनके लिखे एकांकी बहुत लोकप्रिय हैं। पृथ्वीराज की आँखें आदि एकांकी संग्रह हैं। भक्तिकाल तक इनका हिन्दी साहित्य का इतिहास भी है। कबीर का रहस्यवाद एक अनुसंधात्मक ग्रंथ है।

भगवतीचरण वर्मा :—इनका जन्म संवत् १९५८ में हुआ। प्रारम्भ से ही इनकी रचनाओं में एक अजीब मस्ती, बेखुदी मिलती है। जिस समय छायावादी कवियों का वर्ण्य-विषय सौंदर्य था उस समय इन्होंने 'भैंसा-गाड़ी' जैसी कविता लिखकर लोगों का ध्यान युग के यथार्थ और जीवन के सत्य की ओर मोड़ा था। बाद में चलकर ये उपन्यास के क्षेत्र में आए। वहाँ भी इन्हें अपूर्व सफलता मिली। 'चित्र-लेखा' में यद्यपि स्वस्थ और गम्भीर दर्शन नहीं है, किन्तु विषय की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं।

प्रमुख काव्य-संग्रह :—मधुकण, प्रेमसंगीत और मानव।

हरिवंश राय बच्चन :—इनका जन्म सं० १९६४ में हुआ। कविता के क्षेत्र में जितना जनप्रिय बच्चन हैं, उतना बहुत कम कवि हैं। इनके प्रारम्भिक रचनाओं पर अंगरेजी कविता और उमरखैयाम की रुबाइयों का प्रभाव है। इनकी कविताओं में स्वच्छन्दतावादी व्यक्तिवाद ने एक नई दिशा पकड़ी। बच्चन ने मधु, यौवन और वैयक्तिक सुख-दुःख का गीत अधिक गाया है। 'बच्चन' के गीत उनके जीवन के गीत हैं। 'बच्चन' की रचनाओं में तेरा हार, मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा-निमंत्रण, एकांत संगीत, आकुल अंतर, सतरंगिनी, हलाहल, मिलनयामिनी आदि प्रमुख हैं।

'बच्चन' के गीतों ने हिन्दी-कविता का एक नया रूप-संस्कार किया। भाषा सरल, मुहावरेदार और व्क्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त और भावसिक्त हो उठी। मूलतः बच्चन की कविता मस्ती, उमंग और उल्लास की कविता है।

नरेन्द्र शर्मा —इनका जन्म संवत् १९७० में हुआ। इनकी प्रमुख रचनाएँ पलाशवन, प्रभात फेरी, प्रवासी के गीत, कामिनी, मिट्टी और फूल, हंसमाला, रक्तचंदन और अग्निशस्य हैं। इनके प्रारम्भिक

गीत प्रेम-गीत हैं। बाद की कविताओं में प्रगतिवादी विचारधारा और आन्दोलन का प्रभाव पड़ा है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' :—'दिनकर' का जन्म मुंगेर जिला के अंतर्गत सिमरिया नामक गाँव में संवत् १६६५ में हुआ। इन्होंने बी.ए. तक शिक्षा पायी। आजकल राज्य-परिषद् के सदस्य हैं। इनके काव्य-ग्रन्थों में—रेणुका, हुँकार, रसवंती, द्वन्द्वगीत, धूप-छाँह, सामधेनी, बापू, मगध महिमा, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी है। मिट्टी की ओर, अर्द्ध-नारीश्वर तथा संस्कृति के चार अध्याय नामक गद्य-ग्रंथ भी काफी लोकप्रिय हैं। 'कुरुक्षेत्र' इनकी सबसे अधिक प्रौढ़ रचना है। इनकी कविताएँ राष्ट्र-प्रेम से सराबोर हैं। कवि ने भारत के अतीत का गान बड़ी ही प्रभावशाली शैली में किया है। इनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता है उनका ओजगुण। अतीत के प्रति मोह, वर्तमान के प्रति असंतोष और भविष्य के लिये संदेश तीनों दिनकर के काव्य में हैं। 'रश्मिरथी' दिनकर का अंतिम महाकाव्य है। दिनकर प्रारम्भ से अंत तक एक जागरूक कवि रहे हैं।

'दिनकर' सजग सामाजिक चेतना के भावप्रवण कवि रहे हैं। जीवन के वर्तमान दैन्य और कुरूपता के प्रति विद्रोह की भावना को तीव्र अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने नये विराट् प्रतीकों, लाक्षणिकता-प्रधान वक्र-भंगिमा और भाषण-कला में प्रयुक्त होनेवाली अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया है। अपने मन की उमंगों और लालसाओं से संघर्ष करते और जनकल्याण की कामना करते हुए 'दिनकर' ने हिन्दी की प्रगतिशील कविता को वर्तमान जीवन की कठोर यथार्थ-चेतना का आधार दिया है। 'कुरुक्षेत्र' में अतीत इतिहास से प्रसंग चुनकर युग की केन्द्रीय समस्यायुद्ध और शान्ति का उन्होंने सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'दिनकर' को सच्चे अर्थ में राष्ट्र-कवि कहा जा सकता है।

बालकृष्ण शर्मा नवीन :—इनका जन्म सं० १९५४ में हुआ। इनके काव्य-संग्रहों में—कुंकुम, अपलक और क्वासि प्रमुख हैं। नवीनजी की कविताओं में एक ओर जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन और देश-प्रेम से प्रभावित विविध सामाजिक भावनाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर रोमान्टिक भावनाएँ भी हैं। किन्तु 'नवीनजी' की ख्याति उन कविताओं के कारण अधिक हैं, जिनमें कवि ने देश की गरीबी, परतंत्रता तथा वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न घृणित सभ्यता का ध्वंश और नव-निर्माण की कामना की है।

उदयशंकर भट्ट :—इनका जन्म संवत् १९५४ में हुआ। इनके प्रमुख ग्रंथ तक्षशिला, राका, विसर्जन, मानसी, युगदीप, यथार्थ और कल्पना, विजय-पथ, एकलाचलोरे! राधा तथा विश्वामित्र (गीति-नाट्य) हैं। प्राचीन दर्शन और इतिहास के विद्वान् होने के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वर इनकी रचनाओं में अधिक मुखर है। आशा, उत्साह, कर्म और जागृति का सन्देश उनकी कविताओं में बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है।

जानकीबल्लभ शास्त्री :—ये बिहार के अत्यन्त श्रेष्ठ कवि हैं। संस्कृत साहित्य का प्रकांड पंडित होने के कारण इनकी रचनाएँ अत्यन्त गरिमा-मंडित होती हैं। इनके काव्यों में 'शिक्षा', 'तीरतरंग', और 'मेघगीत' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कविता से अधिक सफलता इन्हें गीत लिखने में मिली है। इनके गीत अत्यन्त भावप्रवण, मार्मिक और चित्रात्मक हुआ करते हैं। गद्य लिखने में भी इन्हें बड़ी सफलता मिली है। 'साहित्य-दर्शन' आदि इनके बहुत महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। आप बड़े अच्छे गायक भी हैं।

———

प्रकरण—१६

प्रगतिवाद

ऐसे तो मनुष्य के जीवन के समान साहित्य भी हमेशा प्रगतिशील रहता ही है भले ही उसकी प्रगति की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हों, किन्तु आधुनिक युग में साहित्य की जो एक विशेष धारा चली है जिसे लोग 'प्रगतिशील साहित्य' या 'प्रगतिवाद' कहकर पुकारते हैं, उसमें 'प्रगति' का विशेष अर्थ निहित है। आधुनिक 'प्रगतिवाद' के मूल में 'मार्क्स' और 'फ्रायड' के सिद्धांत निहित है। प्रगतिवाद से आधुनिक युग में साहित्य की उस विशेष धारा का बोध होता है जो संसार के वैषम्य को दूरकर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। यह धारा शोषक और शोषित वर्ग के बीच की खाई को पाटने में तत्पर है।

'प्रगतिवाद' का इतिहास अभी बहुत पुराना नहीं हुआ। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—"छायावादी कविता के पूर्ण उन्मेष काल में ही देश की राष्ट्रीय चेतना में एक नया मानवतावादी संस्कार होने लगा था। देश की स्वतंत्रता का लक्ष्य केवल अंग्रेजों की राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति पाना भर है, या हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण, भेदभाव और अन्यायपूर्ण वर्ग-संबंधों का अन्त करके समानता, न्याय और जनतंत्र के आधार पर एक नये शोषणमुक्त समाज और एक नई मानवतावादी संस्कृति की स्थापना करना है—यह प्रश्न सभी लोकचेता विचारकों को मथित करने लगा था। गाँधीजी के सत्य, अहिंसा और रामराज्य के सिद्धांतों में स्वतंत्र-भारत के भावी समाज की रूपरेखा स्पष्ट नहीं हुई थी।

मार्क्स प्रवर्तित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और सोवियत रूस में पूँजीवाद का अंत करके एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना ने इन लोक-चेता विचारकों को मनुष्य की सामूहिक मुक्ति के एक नये मानववादी जीवनादर्श से प्रेरित करना शुरू किया। सन् १९३४ ई० के लगभग ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और काँग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हो गई थी। इन दलों ने अँग्रेजी साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक गुलामी से मुक्ति पाने के लक्ष्य के साथ-साथ भारतीय सामन्तवाद के अविशिष्ट चिन्हों से किसानों और भारतीय पूँजीवाद से मजदूरों को मुक्त करके एक शोषण-रहित समाजवादी जनतंत्र की स्थापना का लक्ष्य भी भारतीय जनता के सामने रखा। इस तत्ववाद और सामाजिक लक्ष्य में व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव के पूँजीवाद कालीन दुर्निवार अंतर्विरोध का प्रशमन किसी एक के दमन द्वारा नहीं बल्कि दोनों के हितों की परस्परिता और समन्वित द्वारा ही साध्य है। अर्थात् मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म करके एक वर्गविहीन समाज सभी मनुष्यों की उन्नति और विकास के समान साधन जुटाएगा। ऐतिहासिक सत्य की इस चेतना ने भारतीय साहित्यकारों को भी नई प्रेरणा दी। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जोश इलाहाबादी जैसे अग्रणी लेखकों और कवियों ने इस आंदोलन का स्वागत ही नहीं किया, उसमें आगे बढ़कर भाग भी लिया।" यहीं से हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद नाम की धारा चली। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'प्रगतिशील' लेखक संघ के प्रथम सभापति प्रेमचन्दजी ही थे।

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद की धारा गद्य एवं पद्य दोनों क्षेत्रों में प्रवाहित हुई। प्रगतिवादी गद्य-लेखकों में प्रेमचन्द्र, यशपाल, रामविलास शर्मा, रांगेयराघव, रामानन्द सागर, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि ने उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि के द्वारा प्रगतिशील साहित्य